भारतीय शिक्षा

राजेन्द्र प्रसाद

दिल्ली
आत्माराम एण्ड संस
१९५३

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य ३)

अमरजीतसिंह न
साग
काश्मीरी गेट, दिल्

निवेदन

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का यह संग्रह पाठकों के सामने रखने में हम जिस आनन्द और आत्मगौरव का बोध कर रहे हैं, कहते नहीं बनता।

गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे अवसरों के लिये कहा था—

उर अनुभवति न कह सक सोई।
कवन प्रकार कहै कवि कोई॥

राष्ट्र के निर्माण मे राष्ट्रपति का जो योग है, राजनीति, समाज-नीत, शिक्षा और संस्कृति के हर क्षेत्र में उनकी जो देन है, हमारे पाठक उससे भली भाँति परिचित हैं। कस्तूरी की गन्ध शपथ से नहीं जानी जाती। इस उक्ति के अनुसार हम और अधिक क्या कहें ? महापुरुष की वाणी कुछ समय बीत जाने पर भावी पीढ़ी के लिये बराबर शास्त्रवाणी बनती गई है। शिक्षा और संस्कृति के सिद्धान्त जो हम इस ग्रन्थ के रूप मे पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत कर रहे हैं, आगे चलकर शास्त्रवाणी का काम देंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

विनीत
प्रकाशक

२५ नवम्बर, १६५३

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
(नवीन शिक्षा-पद्धति)

द्वितीय खण्ड
(प्राचीन शिक्षा-पद्धति)

तृतीय खण्ड
(वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति)

चतुर्थ खण्ड
(प्रकीर्ण)

प्रथम खण्ड

नवीन शिक्षा-पद्धति

१

शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण

२

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण

३

शिक्षा का माध्यम

४

शिक्षा और सामञ्जस्य

५

शिक्षा की नयी रूपरेखा

६

शिक्षा और आत्मविद्या

१

शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण[1]

मेरे लिए यह बहुत सन्तोष की बात है तथा इस बात के लिए मैं कृतज्ञ हूँ कि केवल भारत के ही नहीं, वरन् पडोसी दो देशों के भी अर्थात् लका और वर्मा के भी विश्वविद्यालयो के उपकुलपतियो और प्रतिनिधियो के सम्मेलन का उद्घाटन करने का मुझे यह अवसर दिया गया है। मई सन् १९२४ में इस सम्मेलन की प्रथम बैठक हुई थी और तब से उसके फलस्वरूप स्थापित अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल प्रति वर्ष अपनी बैठक विश्वविद्यालयो के सामान्य हितो से सम्बद्ध प्रश्नो पर विचार करने के लिए तथा विश्वविद्यालयो की शिक्षा के हितो के साधन के लिए आवश्यक और वांछनीय समझे गये कार्य को हाथ में लेने के लिए कार्य करता रहा है। अभी हाल में भारत सरकार ने एक आयोग विश्वविद्यालयो की शिक्षा के सम्पूर्ण प्रश्नो पर विचार करने के लिए नियुक्त किया था। इसके सदस्यो में भारत के ही नहीं वरन् इंगलैंड और अमेरिका के ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्री थे। इसका अध्यक्ष पद डॉक्टर राधाकृष्णन् ने सँभाला था। आयोग ने बहुत ही मूल्यवान रिपोर्ट पेश की है जिसमें केवल हमारे विश्वविद्यालयो की शिक्षा-क्षेत्र में सफलताओ का विवरण ही नहीं है, वरन् उनके सम्बन्ध में बहुत ही सारगर्भित सिफारिशें और सुझाव भी हैं। हम एक स्वतन्त्र देश के निवासी है। हमारा सविधान गणतान्त्रिक है। उसके अनुसार इस देश में प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक योग्यताओ वाले अनेक नर-नारियो की जरूरत है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ के लोग प्रजातन्त्र से सर्वथा अपरिचित थे। हमारे देश में अनेक गणतन्त्र रहे है, किन्तु जो गणतन्त्र हमने हाल में ही स्थापित किया है उसकी तुलना में वे बहुत ही सूक्ष्म थे। जनता का उत्तरदायित्व नये गणतन्त्र के क्षेत्र के अनुपात में बढ गया है। हमारी शिक्षण-सस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे उनको उन कार्यों के योग्य बनायें जो उनके सामने आने वाले है। सविधान स्वयं ही कुछ खास बात तब तक नहीं कर सकता जब तक कि इसके पीछे विशिष्ट स्तर की बुद्धि, सार्वजनिक भावना और देश के हित के प्रति लगन साधारण नागरिको में न हो। शिक्षण-सस्थाओं का यह काम है कि वह ऐसा वातावरण पैदा करें जिसमें

---

१ भाषण अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल, रजत-जयन्ती सम्मेलन, बनारस, २८ फरवरी, सन् १९५०।

1253

गुण विकसित हो और उनके प्रभाव में पलने वाले व्यक्तियों को आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त हो। विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन का महत्त्व इस बात में है कि वह इस देश की वर्तमान व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार करता है तथा इस आधार पर शिक्षा-समस्याओ पर विचार करता है। अत: इस को बहुत से क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सुझाव देना पड़ा है। विश्वविद्यालय आयोग की नयी रिपोर्ट की यह खूबी है कि वह पुरानी परम्परा से पूर्णतया विच्छेद का सुझाव नहीं रखती, वरन् जो कुछ उसमें प्राप्य है उसमें से सबसे अच्छे को बनाये रखना चाहती है और जो सर्वोत्तम बात प्राप्त करना वांछनीय है उसके लिए प्रयास करने का सुझाव रखती है।

मुझे इसमें शंका नहीं है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-परम्पराओं और आकाक्षाओ के संरक्षक की हैसियत से और हमारे विश्वविद्यालयो के प्रतिनिधि होने की हैसियत से आप उन सिफारिशो और सुझावो पर पूरा विचार करेंगे।

यद्यपि हमारे विश्वविद्यालय लगभग एक शताब्दी से अस्तित्व में है तो भी पिछले ४० वर्षो में उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है और कुछ वर्षों में तो उनकी अभिवृद्धि उल्लेखनीय और चमत्कारिक है। यह भी विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है कि एक के बाद दूसरा विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय। इससे प्रकट है कि उच्च शिक्षा के विकास के लिए लोगो के मन में कितनी रुचि है। पिछली अर्द्धशताब्दी में हाई स्कूलो की संख्या में बहुत ज्यादा वृद्धि हुई है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हाई स्कूलो से शिक्षा समाप्त करके निकलने वाले विद्यार्थियो की आगे की शिक्षा के लिए नये विद्यालयो की माँग बढ़ जाय। स्कूलो और विद्यालयों की सख्या बढ़ने के फलस्वरूप विश्वविद्यालयो की सख्या बढ़ना ही अनिवार्य था। मुझे इस बात की प्रसन्नता है; किन्तु साथ ही मुझे ऐसा लगता है कि ऐसे क्षेत्र में केवल संख्या के बढ़ने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि मानसिक और बौद्धिक साधनो में भी अनुपातेन वृद्धि हुई है। यदि मैं—इन सस्थाओ के विद्यार्थियो की मानसिक शक्ति के स्तर में किसी सीमा तक गिरावट से हुई, और मेरा सीमित अनुभव मुझे इस गिरावट की ओर संकेत करता है,—अपनी निराशा की बात आपसे कहूँ तो मैं नहीं चाहता कि उससे आप कुछ और धारणा मन में बैठा लें। किन्तु इस भावना के अतिरिक्त जो इन संस्थाओ से मेरे से अधिक निकटतम सम्बद्ध लोगो के मन में चाहे हो और न भी हो, मुझे यह भी लगता है कि अब समय आ गया है जब हमें अपनी सारी शिक्षा-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर विचार करना है और इसके लिए प्रयास करना है। चूंकि विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट हमें इस दिशा में आगे बढ़ाती है इसलिए मैं इस को पर्याप्त महत्त्व देता हूँ।

इस विषय में कुछ मूलभूत प्रश्न ऐसे है जिनका उत्तर देना हमारे लिए आवश्यक है। उदाहरणार्थ शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को ही ले लीजिये। कुछ भी कारण क्यो न हो, काफी लम्बे समय से हमारी शिक्षा की माध्यम विदेशी भाषा रही है। मैने अपनी पढ़ाई अगरेजी अक्षरो के सीखने से आरम्भ की थी। तब से इस दिशा में कुछ परिवर्तन हो गया है, पर मै नहीं जानता कि क्या यह कहा जा सकता है कि बालक की शिक्षा का माध्यम सर्वथा उसकी मातृभाषा कर दी गई है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि अभी इस परिवर्तन की आरम्भिक अवस्था ही पूरी होने वाली है। जब हम माध्यमिक शिक्षा की बात सोचते है तो हमें पता चलता है कि बहुत से स्थानो में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम अगरेजी के स्थान पर भारतीय भाषाएँ हो रही है। किन्तु मै यह नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन पूरी तरह किया जा चुका है। विश्वविद्यालयों में तो यह परिवर्तन मुश्किल से ही कहीं शुरू हुआ है। मेरा विश्वास है कि इस विषय के सब अधिकारी और जानकारी रखने वाले लोग यह मानते है कि यदि शिक्षा प्रभावशाली और धन तथा समय की दृष्टि से मितव्ययी होनी है तो वह जनता की भाषा में दी जानी चाहिए। देश की वर्तमान परिस्थितियो में इस सर्वमान्य सिद्धान्त पर किस प्रकार व्यवहार किया जाय, केवल यही प्रश्न विचारणीय है। आयोग ने इसका एक हल सुझाया है जिसे मै एक प्रकार से समझौते वाला हल मानता हूँ। सब बातो पर विचार करके व्यक्तिगत दृष्टि से उसे एक शर्त पर पूर्णतया स्वीकार करने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं है और वह शर्त यह है कि इस पर अविलम्ब और मन में निहित विपरीत भावना के बिना कार्य आरम्भ कर दिया जाय।

हमारे सामने परीक्षाओ की भी समस्या है जो अब तक हमारी शिक्षा-व्यवस्था का प्रधान अग रही है। जब हम उन परिस्थितियो पर विचार करते है जो हमारे विश्वविद्यालयों के आरम्भिक पचास वर्षों में उनको सौंपी गई थीं तो हमें पता चलता है कि बात कुछ और हो भी न सकती थी। उस समय हमारे विश्वविद्यालय केवल ऐसी ही सस्थाएँ थीं जो स्वय पढाने के लिए जिम्मेदार न थीं, वरन् केवल इस बात से सन्तुष्ट थीं कि विद्यार्थी को यह प्रमाण-पत्र दे दिया जाय कि उसने विशिष्ट दर्जे की योग्यता हासिल कर ली है। जिन सस्थाओं का यह काम था कि वे विश्वविद्यालयो द्वारा दी जाने वाली इन परीक्षाओ में बैठने वाले विद्यार्थियो को तैयार करें उनका स्वभावत. यह प्रयास रहता था कि इस प्रयोजन को, अर्थात् परीक्षाओ में सफलता प्राप्त कराने के प्रयोजन को, वे पूरा करें क्योंकि इसी प्रयोजन से तो विद्यार्थी उनमें प्रविष्ट होते थे। विद्यार्थियो के लिए भी इस बात के अलावा और कुछ चारा न था क वे और सब बातो से ज्यादा इन प्रमाण-पत्रो को महत्त्व दें। क्योकि इन्हीं प्रमाण

पत्रों पर तो उनका भविष्य और भावी जीवन लगभग सर्वथा निर्भर करता था। स्वभावतः शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए एक तरफ और विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के लिए दूसरी तरफ परीक्षायें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात हो गई। इस व्यवस्था की आलोचना यही है कि आज भी ऐसे विश्वविद्यालयों की जो अभिज्ञान प्रदान करने वाले हैं आमदनी का मुख्य भाग उन शुल्कों से आता है जो उनकी परीक्षाओं में बैठने के अधिकार प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी देते हैं। यद्यपि एक शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में या उससे कुछ अधिक समय में शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं के रूप में कुछ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है, तथापि वे भी परीक्षाओं की जकड़ से अपने को मुक्त नहीं कर पाये हैं। यह भी उसी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम है जो हमारे देश में थी और जिसके अन्तर्गत हमारे शिक्षक भाई अपनी जीविका के लिए केवल कुछ सीमित प्रकार की नौकरियों और धन्धों की बात ही सोच सकते हैं। इन धन्धों में सफलता प्राप्त करना भी इन परीक्षाओं के फलों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। अतः यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि इस भार से किस प्रकार और किस सीमा तक नवयुवकों को मुक्त किया जाय जिससे कि वे अपना ध्यान और समय सत्य-ज्ञान और सत्य-शिक्षा के उपार्जन में लगा सकें जो परीक्षा में सफलता प्रदान करने वाली और अधिक नम्बर दिलाने वाली जानकारी से बिलकुल विभिन्न होगी। जब तक इस दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं होता तब तक मुझे भय है कि हमारे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए मौलिक ज्ञान के क्षेत्र में विशेष कामयाबी हासिल करना सम्भव नहीं होगा। यह सत्य है कि हमारे यहाँ बहुत से मेधावी व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अच्छी ख्याति पाई है। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। किन्तु वे तो मरुभूमि में इक्की-दुक्की हरियाली के समान हैं जो अपने कामों के कारण विख्यात हो जाते हैं किन्तु अपनी योग्यता के बावजूद देश की रूपरेखा बदलने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं।

हमारे देश में किसी समय गुरुकुलों की व्यवस्था थी। उस प्राचीन परम्परागत गुरुकुल-व्यवस्था में शिक्षक और शिक्षार्थी में पारस्परिक बड़े घनिष्ठ और निकटतम सम्बन्ध होते थे। अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था के प्रारम्भ होने तक व्यावहारिक दृष्टि से पाठशालाओं और मकतबों में भी यह घनिष्ठता बहुत कुछ मौजूद थी। यद्यपि यह बात नहीं कही जा सकती कि उस समय इसकी प्रारम्भिक शुद्धता या प्रभुता थी, किन्तु उस आदर्श से आधुनिक व्यवस्था शनैः-शनैः दूर होती चली जा रही है और आज हमारे विद्यालयों और पाठशालाओं में शिक्षक और विद्यार्थी के बीच मालिक और नौकर के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध सम्भवतः नहीं है। विद्यार्थी शिक्षक की सेवाओं के लिए शुल्क देता है और शिक्षक दिन में कुछ घंटे पढ़ाने का काम कर देता है। इसके अतिरिक्त दोनों में और कोई सम्पर्क नहीं होता। इस बारे में अपवाद हो सकते

है, किन्तु मुझे भरोसा है कि स्थिति का ऐसा दिग्दर्शन करके मैं उस रूप को भौंडा चित्र नहीं दे रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि विद्यार्थियो में जिस अनुशासनहीनता की बात आजकल आप लोग सुनते हैं वह इन्हीं वर्तमान परिस्थितियो का स्वाभाविक परिणाम है। अनुशासन सर्वदा बलपूर्वक नहीं मनवाया जाता, वरन् उसकी भावना हृदय के अन्दर से ही पैदा होती है। इस प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि कुछ स्वाभाविक परिस्थितियाँ मौजूद हों। आज ये परिस्थितियाँ मौजूद नही है और इसलिए हम कुछ अधिक अच्छे परिणामो की भी अपेक्षा नहीं कर सकते।

इसी समस्या के साथ विद्यार्थी के इस गुण के विकास की समस्या भी बँधी हुई है, जिसे हम एक शब्द में 'चरित्र' कह सकते है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था ने इस बात पर ध्यान देना छोड़ दिया है, किन्तु मेरा विचार है कि अन्ततोगत्वा विद्यार्थी के मानसिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक गठन का महत्त्व और मूल्य केवल उसके लिए ही नहीं, वरन् सारे देश के लिए उसके कोरे बौद्धिक विकास से कहीं अधिक है। यह ऐसी समस्या है जिसे हल करना है, और मुझे इस बात का हर्ष है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था के इस पहलू पर विश्वविद्यालय-आयोग ने विचार किया है।

एक बात और है जो मेरी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह एक नये प्रकार के विश्वविद्यालयो की जिन्हें ग्राम्य विश्वविद्यालय का नाम दे सकते है स्थापना का प्रश्न है। जब महात्मा गान्धी ने बुनियादी तालीम की स्कीम देश के सामने रखी थी तो कुछ लोगो ने उसे क्रान्तिकारी स्कीम समझा था, तथापि देश के ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्रियो में से पर्याप्त ने उसका अनुमोदन किया था। और कामों की तरह जिन्हे उन्होंने अपने हाथ में लिया था वे इस बारे में भी बहुत ही स्थिरमत थे और उनकी प्रेरणा से बहुत सी प्रान्तीय सरकारो ने इस प्रयोग को प्रारम्भ किया था। पड़ौसी बिहार प्रान्त में किये जाने वाले इस प्रयोग से साधारणतया सम्बद्ध होने का मुझे भी सौभाग्य मिला था। वह प्रयोग एक छोटे पैमाने पर किया जा रहा था, किन्तु सौभाग्यवश उसे पूरा किये जाने का अवसर मिला। ऐसी बात दूसरे प्रान्तो मे नही हुई। बहुत सी बाधाओ के बावजूद जिनका सामना इसे करना पड़ा, यह अधिकृत व्यक्तियों की दृष्टि में पूर्णतया सफल हुआ और इसने प्रान्त के शिक्षा-शास्त्रियो के सामने कार्य का नया क्षेत्र खोल दिया। मुझे ज्ञात हुआ है कि कार्यदक्षता का ध्यान रखकर इस व्यवस्था को अब विस्तृत क्षेत्र में फैलाया जा रहा है। कार्य-दक्षता तो योग्य और अच्छे शिक्षको की सख्या पर निर्भर करती है। इसलिए मेरा विचार है कि इस व्यवस्था का विस्तार यहाँ इसी बात पर निर्भर करता है कि इस प्रयोजन के लिए विभिन्न प्रकार के शिक्षकों को प्रशिक्षा में और उन्हें तैयार करने में कितना समय लगता है।

ग्राम-विश्वविद्यालयो की योजना जैसा कि रिपोर्ट के लेखक स्वय कहते है इसी

योजना का ऐसे परिवर्तनो सहित विस्तार है जो उन्हें उचित जँचे है। मुझे ऐसा लगता है कि उसी दशा में शिक्षा के विस्तार की सिफारिश करके आयोग ने देश की वर्तमान परिस्थितियो में सबसे बडी सेवा की है। अब यह विशेषज्ञो का और राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार का काम है कि वे इन सिफ़ारिशो को अमल में लाने के लिए व्यावहारिक बातो का निर्णय करें। मुझे इसमें शंका नहीं है कि यह योजना देशवासियो के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकती है और ग्रामो की रूपरेखा को बेहतर बना सकती है। आजकल गांव से आने वाले नौजवान मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास कर लेने के पश्चात शहर में, जहां उन्हे हर हालत में आजकल की महँगी के कारण अपने खर्चे को अपनी आमदनी के अन्दर रखना मुश्किल होता है, किसी दफ़्तर में कुछ रुपये तनख्वाह वाली नौकरी पाने की कोशिश करते है। इससे तो कहीं बेहतर होगा कि वे अपने परिवार के पुराने धन्धे में ही लगे रहें और गांव के वातावरण में खेती को सुधारें और स्वास्थ्यजनक जीवन व्यतीत करें। किन्तु आजकल का तथाकथित शिक्षित नौजवान यह बात नहीं कर सकता। चूंकि वह पढ़-लिख गया है इसलिए अपने बाप या चाचा के खेत में उसके लिए काम करना सम्भव नहीं है। मेरे सामने एक प्रश्न सदा बना रहा है कि क्या सत्य ही हमारी शिक्षा का प्रयोजन हमारे लोगों को अयोग्य और परावलम्बी बनाना है? क्या उसे उनको अधिक आत्मविश्वासी, जीवन-सघर्ष का मुकाबला करने के लिए सुसज्जित और अपने परिवारों की और साथ-ही साथ सारे देश की सेवा के लिए विशिष्टतया सुसज्जित करना नहीं है? जो व्यवस्था अब तक कायम रहा है उसने गांव से उन लोगो को अलग कर दिया है जिन्हे शिक्षा पाने का अवसर मिला है और इस प्रकार गांवो को वहीं-का-वहीं रहने दिया है जहां वह पहले थे। इस शिक्षा के परिणामस्वरूप गांव से उनके सर्वोत्तम व्यक्तियो के अलग हो जाने की समस्या के दलदल से बचने का रास्ता संभवतः इन ग्राम्य विश्वविद्यालयो की स्थापना द्वारा निकल सकता है। किन्तु मै आपका और समय नहीं लेना चाहता। मुझे आशा है कि आपका ध्यान उन बातो की ओर आकृष्ट करने के लिए जो मुझे ठीक जँची आप धृष्ट न समझेंगे।

मुझे ऐसा लगा कि आपका जैसा मण्डल ऐसे प्रश्नों पर सब बातो को ध्यान में रखकर विचार कर सकता है और इसलिए मैंने उनकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की स्वतन्त्रता बरती। इस आयोग में भाग लेने के लिए मुझे आपने यह मौका दिया, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और चाहे मेरा इसमें कितना ही कम भाग क्यों न हो इसका उद्घाटन करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

२

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण[1]

यहाँ मेरे समक्ष केवल भारत, वर्मा और लका के विश्वविद्यालयो के ही नहीं, वरन् अन्य देशों के विश्वविद्यालयो के भी जो राष्ट्रमण्डल के सदस्य है, उपकुलपति और अन्य उच्चाधिकारी भी समवेत हैं और इसलिए जो आदर आपने मुझे इस सम्मेलन के उद्घाटन करने का निमन्त्रण देकर प्रदान किया है उसकी मैं बहुत क़द्र करता हूँ। मेरा विचार है कि यह पहला अवसर है कि जब ऐसा सम्मेलन भारत में हो रहा है और भारत का इन्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड और विशेषत दिल्ली का विश्वविद्यालय इस बात के लिए अपने को विशेष गौरवान्वित समझता है कि उसे ऐसे प्रख्यात विद्वानो की मेहमाननवाजी करने का अवसर मिला है। आपने विचार-विनिमय के लिए जो विषय अर्थात् 'सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि में विश्वविद्यालयो का स्थान' रखा है, वह सम्मेलन के सदस्यो के लिए ही नहीं, वरन् ससार भर के विचारवान् नर-नारियो के लिए भी काफी महत्त्वपूर्ण और हृदयग्राही है। हम लोगो को जो आज ससार में जीवित है वहुत सी वस्तुएँ बहुत मामूली-सी लगती है, किन्तु आज से कुछ वर्ष पहले तो उन्हे अभूतपूर्व और चमत्कारिक वस्तुएँ माना जाता था। पिछले कुछ वर्षों से भौतिक विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र में नये तथ्यो के पता चलने का जो रफ़्तार रही है उसने केवल दुनिया की शक्ल-सूरत ही नहीं बदली है, वरन् दूर-दूर प्रदेशो के रहने वाले नर-नारियो का जीवन भी बिलकुल बदल दिया है। भाप और बिजली ने यातायात के औद्योगिक उत्पादन और सचार-साधनो में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। औषधि और शल्य के क्षेत्र में जो नयी बातें खोज निकाली गई है उनसे शरीर के अनेक रोगो की जो अभी तक असाध्य रोग समझे जाते थे, चिकित्सा आसान हो गई है। इस प्रकार विज्ञान ने जीवन को सरल और आरामदेह बनाने के अनेक साधन मनुष्य को प्रदान कर दिये है। इन्ही खोजो ने उसके हाथ में जीवन के हर क्षेत्र में विनाश के साधन दे दिये है। वर्षों में आणविक शक्ति को काबू में लाने के सम्बन्ध में जो प्रगति हुई है उससे तो विनाश के साधनो मे आज तक जो तरक्की हुई थी उससे कहीं ज्यादा विनाश-शक्ति मनुष्य के हाथो मे आ गई है। उसके

---

१. भाषण राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालय सघ की कार्यकारिणी और अन्तर्विश्वविद्यालय समिति के सयुक्त अधिवेशन का उद्घाटन।

कल्याणकारी प्रयोगों या प्रभावों के सम्बन्ध में अभी तक कोई बात हमें ठीक तरह से न तो ज्ञात है और न ही दिखाई दी है। इस प्रकार मानव-जाति के और सभ्यता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या संसार के सामने है। मेरा वर्तमान जगत् के सम्बन्ध में यह अन्दाज़ा गलत नहीं है कि आदमी ने आज दानवों की-सी शक्ति और सत्ता अथवा उस शक्ति और सत्ता से भी अधिक सत्ता और शक्ति जो अब तक दानवों की समझी जाती रही है प्राप्त कर ली है। किन्तु उसके कल्याणकर प्रयोग के रहस्य को उसने नहीं जान पाया है। सभवतः मेरा यह कहना ठीक ही होगा कि उसने कल्याण-कर प्रयोगों के स्थान पर उसके बुरे प्रयोगों को ही अभी सीखा है। यदि हम उसका कल्याणकारी प्रयोग नहीं कर पाये तो जितनी ही शक्ति और सत्ता अधिक होगी उतनी ही विनाशकारी उनकी सामर्थ्य होगी। आज इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मानव को विज्ञान ने जो ज्ञान और शक्ति प्रदान की है, यदि उसका उचित प्रयोग और नियन्त्रण करने का रहस्य उसने न जाना तो मानव-जाति के सिर पर मृत्यु नाचने लगेगी।

हमारे पुराणों में एक कथा है जिसे यहाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए दुहरा देना चाहता हूँ। कहा जाता है कि एक दुष्प्रकृति वाला भस्मासुर नामी राक्षस था। उसने कठोर तपस्या की। भगवान् शिव प्रसन्न हो गये और उसे दर्शन दिये और उससे कहा कि वह कोई भी वर माँगे, और उसे आश्वासन दिया कि भगवान् वह वर प्रदान करेंगे। उस असुर ने अपनी कठोर तपस्या में अनेक यातनाएँ सही थीं और इस प्रस्ताव से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने यह वर माँगा कि भगवान् उसको ऐसी शक्ति प्रदान करें कि वह जिस व्यक्ति के सिर पर हाथ रखे वह तुरन्त ही भस्म हो जाय। भगवान् ने वचन दे दिया था और वे उसे भग नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने वह शक्ति उसे प्रदान कर दी। असुर मन में यह सोचने लगा कि विश्व भर में मानवों या देवताओं में ऐसा कौन सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति है जिसे भस्म कर वह सारे भूत जगत् का एकछत्र प्रभु बन जाय। उसने सोचा कि ऐसा उस देवता के बिना कोई नहीं हो सकता जिसने उसे यह विनाश की शक्ति प्रदान की है और उसने मन में भगवान् शिव को भस्म करने की ठानी जिससे वह विश्व भर का निष्कंटक स्वामी बन जाय और उनकी पत्नी पार्वती का पाणिग्रहण कर ले। उसके इस विचार को जानकर भगवान् भागे और वह असुर उनके पीछे दौड़ा। भगवान् को कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ वह उस असुर से अपनी रक्षा कर सकते। भगवान् शिव की पत्नी देवी पार्वती ने उनकी यह दुरवस्था देखी और उनकी रक्षा के लिए आईं। असुर के सामने वे अपने पूरे रूप और लावण्य से प्रकट हुईं और उससे कहा कि तू भगवान् शिव को इसलिए मारने की चेष्टा करता है कि तू मुझ को चाहता है। इसलिए

यदि तू मुझे विशिष्ट नृत्य से प्रसन्न कर दे तो मैं स्वयं ही तुझे अपने को अर्पण करने को प्रस्तुत हूँ। घमण्ड और विमोह के कारण असुर इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और नाचने लगा। नाच की एक मुद्रा ऐसी थी जिसमें उसे अपना हाथ अपने सिर पर रखना था और उसने जैसे ही यह बात की वैसे ही वह वरदान के कारण वहीं भस्म हो गया। वर्तमान युग के देवताओं ने साजिश करके मनुष्य के हाथ में संहार की ऐसी असीम शक्ति दे दी है और उसकी आँखो के सामने ऐसा विक्षिप्त करने वाला आकर्षण रख दिया है जिसे वह अपने ज्ञान के मद में सुन्दर और अभूतपूर्व समझता है। हम ईश्वर से यही प्रार्थना कर सकते हैं कि इस ताण्डव नृत्य के नाचने के लालच से वह हमें दूर रखे। इस लालच से क्योंकर बचें, यही समस्या अनेकानेक मनुष्यो के सामने आज उपस्थित हो रही है। हमें ईश्वर से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि देवी सरस्वती मनुष्य को उस शक्ति और सत्ता के उचित प्रयोगो के रहस्यो को बताये जो उसने मानव को प्रदान कर दी है। वह उसे इस योग्य बना देगी कि जिस शक्ति से आज पूर्ण विनाश का खतरा है उसी का वह कल्याण-साधन के लिए प्रयोग कर सके और उसके प्रयोग से मानव की शक्ति और सत्ता का विनाश होने के बजाय उसके दोषों का ही नाश हो। इतिहास हमें यही शिक्षा प्रदान करता है कि जब तक ज्ञान से सुबुद्धि सयुक्त और नियन्त्रित न हो तब तक वह केवल स्वय पर्याप्त तो है ही नहीं, वरन् अहितकारी भी सिद्ध हो सकता है। अत. विश्वविद्यालयो को केवल ज्ञान प्रदान कर उसका प्रसार और वृद्धि ही न करनी चाहिए, वरन् उनको सुबुद्धि का भी ऐसा आगार होना चाहिए जहाँ से ज्योति की किरणें फैलकर मानव-आत्मा को प्रकाशित कर देती हैं और उसे दैवी ज्योति से ओत-प्रोत कर देती हैं।

इसी विचार को रहस्यमयी भाषा के बजाय सीधी-सादी भाषा में मैं आपके सामने रखूँगा ? कुछ ऐसी घटनाएँ हुई है जिनमे सारे जगत् के रूप-रंग के पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाने की सभावना है। आणविक शक्ति ने मनुष्य को देवताओं की शक्ति—समस्त भूमण्डल को आनन्दमय स्वर्ग अथवा निपट एकाकी प्रगाढ शान्तिमय समाधिस्थल बना देने की शक्ति प्रदान कर दी है। वाष्प और विद्युत के साथ-साथ जो क्रान्तिकारी परिवर्तन चले आये उनका आप सब को ज्ञान है। किन्तु आणविक शक्ति के इस भीम के सामने ये दोनो तो बेचारे घुटनो चलने वाले शिशु थे। अत यह विचार सर्वथा बुद्धिसगत है कि शक्ति की इस महावृद्धि में मानव के सामाजिक गठन और मानसिक स्वरूप में उससे भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन निहित है जो कि वाष्प अथवा विद्युत के कारण हुआ था।

आज के समाज के खोल से जो दूसरी क्रान्तिकारी शक्ति टकरा रही है वह वह दुर्दमनीय आन्दोलन है जो स्वामित्व-प्राप्त और पेशेवर वर्गों के मकाबले में जीवन

को सबसे अच्छी वस्तुओं को बराबर-बराबर पाने के लिए असंख्य जनसमूह के और विशेषतः आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में पिछडी हुई एशिया और सागर द्वीपमाला के अरबो नर-नारियो के हृदय में लहरा रहा हैं। गत शताब्दियो में जनसाधारण का समस्त जीवन और परिश्रम इस विश्वास से बँधा था कि उनके परिश्रम का पुरस्कार कुटिल दैव की इच्छा पर निर्भर करता है और इस बारे में न तो उनका कोई चारा है और न कोई बचत, अतः अपने दु.खभरे भाग्य को वे मरे हुए मन से माने रहते थे। किन्तु जहाँ तक ससार के और कम-से-कम एशिया के करोडो नर-नारियो का सम्बन्ध है, भाग्य का यह आधार वर्तमान व्यवस्था और विधान के तले से खिसक गया है या खिसका जा रहा है। उचित हो या अनुचित, किन्तु उनमें से आज अनेक यह समझ रहे हैं कि उनका अभाव और कष्ट दयासागर और सर्वज्ञाता भगवान् की देन न होकर कुटिल मानवों, वर्गों और राष्ट्रों के दुष्प्रयोजनो का परिणाम है। अपनी वर्तमान दुरवस्था के विरुद्ध उठ पड़ने के लिए अनेको को क्षुधा का अकुश मजबूर कर रहा है। इसीलिए आज के जगत् की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को मिटाने के लिए नर-नारी आगे बढ रहे हैं। मानव-जाति के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि इतने असंख्य साधारण नर-नारियो का समूह, उस ऐतिहासिक सत्ता और व्यवस्था के विरुद्ध जो उनके जीवन को शासन और नियमो में बांधे हुए है, इस प्रकार तुमुल युद्ध करने के लिए और नव समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध होकर उठ खड़ा हुआ हो।

यदि हमारे युग की ये दोनों क्रान्तिकारी शक्तियाँ स्वभावतया अनमेल या विरोधी होतीं तब मानव-जाति के बचे रहने का लेशमात्र आशा भी न होती। भाग्यवश बात बिलकुल उलटी है। अभी कल तक ही तो मानव-जाति के उत्पादन-यन्त्र में यह सामर्थ्य न थी कि वह सफेद और रंगवाले सभी मानवो की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। यह ठीक है कि वाष्प और विद्युत के उत्पादन ने बहुत वृद्धि की, किन्तु फिर भी उसकी कुल सामर्थ्य बिलकुल सीमित थी और वह इसमें असमर्थ था कि द्रुतगति से बढ़ने वाली मानव-जाति की नित्यप्रति बढने वाली आवश्यकताओं की, और खास तौर से उस अवस्था में जब साधारण जनो के मन में भी यह बात बैठ गई हो कि उन्हें भी उच्च वर्ग के बराबर ही सब उत्पादित वस्तुओ में समान भाग मिलना चाहिए, पूर्ति कर सके। यह होना अनिवार्य था ही। जब शक्ति सीमित थी तो उत्पादन सीमित ही हो सकता था, पर उत्पादित वस्तुओ के भागीदारो की संख्या न तो सीमित थी और न सीमित हो सकती थी। किन्तु आणविक शक्ति ने मानव-जाति को असीम और सीमाहीन शक्ति प्रदान कर दी है। यदि इसे सृजनात्मक प्रयोजनो के लिए काम में लगाया जाय तो यह उत्पादन की असीम शक्ति पैदा कर देगी और एक ऐसे सम्पन्न जगत् की सृष्टि कर देगी जिसमें अपने भाई-बहनों

के भाग पर किसी तरह का असर डाले विना प्रत्येक नर-नारी जो कुछ चाहेगा ले सकेगा। दूसरे शब्दो में जीवन की अच्छी वस्तुओ को पाने के लिए जनसाधारण की आकांक्षा की पूर्ति का साधन यही क्रान्तिकारी शक्ति है।

किन्तु इस वारे में शका के लिए गुजाइश है कि इन दो क्रान्तिकारी शक्तियो का मेल उस सामाजिक चेतना द्वारा कराया जा सकता है या नहीं जो आजकल मानवो के कार्यो का सचालन कर रही है। वहुत कुछ सीमा तक यह चेतना सीमित शक्ति और सीमित उत्पादन-युग की पुत्री है। अत यह अनिवार्य-सा ही है कि जीवन के इन नये तथ्यो के स्वाभाविक और निहित परिणामों को समझने में यह असफल सिद्ध हो। युद्ध और अभाव के प्रति वर्तमान सामाजिक चेतना के रुख से यह आशका और भी दृढ हो जाती है। आज भी इसे इस सत्य का भास हुआ प्रतीत नहीं होता कि इन दोनो का पूर्णतया अन्त करना ही मानव-जाति के वचाव और बने रहने की पहली शर्त है। अभी हाल तक युद्ध का अर्थ इसके सिवाय और कुछ न था कि कोई भी वर्ग या प्रादेशिक समूह किसी दूसरे वर्ग या राष्ट्र से अपने झगड़ों को सुलझाने के लिए अपनी शक्ति का विध्वसात्मक प्रयोग उनके विरुद्ध करे। ये लोग इस प्रकार के प्रयोगों को निश्शङ्क होकर इसलिए कर सकते थे कि जिन वस्तुओ को वे मूल्यवान् समझते थे उनका सीमित शक्ति से सीमित विनाश ही हो सकता था। वैसे प्रयोगो से वे उन ध्येयों की पूर्ति कर सकते थे जो युद्ध द्वारा विनष्ट होने वाली कुछ वस्तुओ से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त सीमित उत्पादन से जीवन की अच्छी वस्तुएँ इतने परिमाण में उत्पादित नहीं की जा सकती थीं कि सव लोग उनमें हिस्सा ले सकें। अत· व्यक्ति और समूह के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपनी चाही हुई वस्तुओ को दूसरे हिस्सा मांगने वालों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करके हथिया लें। दूसरे शब्दों में सीमित उत्पादन के युग में मानवीय समूह का यह विचार था कि उनके सुखी जीवन के लिए युद्ध एक फलदायी साधन है। इस अवस्था में विकसित सामाजिक चेतना का स्वभावतः ही युद्ध के प्रति इसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिकोण नहीं हो सकता था कि वह वाछनीय है और कम-से-कम मानव-जीवन मे अनिवार्य और अपरिहार्य तो है ही। युद्ध के वारे में यह रुख हमारे सामाजिक मन का ऐसा अविच्छिन्न अग वन गया है कि केवल युद्ध के नाम को सुनते ही सहज में ही उसके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने के वजाय अनेक मनुष्य जिनमें विद्वान् और उच्च राजनैतिक पद धारण करने वाले भी सम्मिलित हैं उसे वर्गीय और राष्ट्रीय मतभेदो और झगड़ो को हल करने का प्रभावशाली साधन समझते है और उसे सगठित सामूहिक जीवन का स्वाभाविक और निहित अग मानते हैं। युद्ध के प्रति अपनी प्रकृति-जनित प्रतिक्रियाओ के कारण यह सामाजिक चेतना स्वभावत ही इस असीम शक्ति

के युग में युद्ध के परिणामों का अन्दाजा लगाने में असमर्थ है। जैसा कि मैंने अभी कहा है आणविक शक्ति ने मनुष्य को असीम शक्ति प्रदान कर दी है। इसके विध्वंसात्मक प्रयोगो के परिणाम न तो किसी प्रदेश और न किसी काल तक ही सीमित रखे जा सकते हैं। इस प्रकार यह नतीजा अनिवार्य प्रतीत होता है कि आरम्भ होने वाले इस नये युग में मानव के अस्तित्व के लिए युद्ध घातक सिद्ध होगा। किन्तु मुझे भय है कि युद्ध के प्रति अपनी सहज भावना के कारण हमारी सामाजिक चेतना इस सत्य को आसानी से नहीं पहचान सकती और मानव-जीवन की व्यवस्था में आणविक शक्ति के असली महत्त्व को पहचानने में भी असमर्थ रहेगी।

जीवन के अभाव के विरुद्ध जनसाधारण के विप्लव से पैदा होने वाले प्रश्नो का हल भी यह चेतना सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। पिछले सहस्रो वर्षों से अनेकों की ग़रीबी और दुःख तथा थोड़े लोगो की सम्पन्नता और संस्कृति मानव-जीवन का अनिवार्य और अपरिहार्य तथ्य है। यह ठीक है कि मानव के प्रति स्नेह और सद्भावना से ओतप्रोत अनेक ऋषियो और महात्माओ ने अनेको की इस दुःखभरी अवस्था के लिए आँसू बहाये हैं। उनमें से कुछ ने तो इस बात के लिए रोष भी प्रकट किया है कि वे थोड़े लोग उस समय भी जब उनके अनेक भाई हर प्रकार की यातनाओ और विपत्तियों को सह रहे है स्वयं आनन्द में लीन है। किन्तु चाहे उन्होने इस परिस्थिति को धैर्य से सहा अथवा धार्मिक जोश से उसके विरुद्ध आग उगली, पर ग़रीबी न तो मिटी और न मिटायी जा सकी और न अभाव के भूत को सदा के लिए दफ़न किया जा सका। सीमित उत्पादन और अभाव की अनिवार्यता की ऐसी स्थिति में हमारी वर्तमान सामाजिक चेतना का जन्म हुआ।

आज से छ वर्ष पहले युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी न तो किसी राष्ट्र को और न किसी वर्ग को शान्ति के दर्शन हुए और न सम्पन्नता के। किन्तु इस बात की बजाय कि उनकी वर्तमान दुरवस्था का कारण उनकी सामाजिक चेतना का दोष है उनमें से प्रत्येक यह विश्वास करता है कि वह सब उनके मुख़ालिफ राष्ट्रो या वर्गों के दिल के अन्दर बुराई की बहुतायत की वजह से है। कोई दिन ऐसा नहीं होता जब वे एक दूसरे पर बड़े ज़ोर के साथ दोषारोपण या प्रतिदोषारोपण न करते हो। जैसा कि मैंने पहले कहा है हमारे जीवन का रोग आज किसी एक राष्ट्र का पापमय हृदय नही है वरन् वह इतिहास-प्रदत्त सामाजिक चेतना का मानव-जीवन की नयी शक्तियो से अनमेल है। आज मनुष्य के सामने जो विपत्ति है वह संगठन की या वस्तुओं की विपत्ति न होकर चेतना की विपत्ति है। दूसरे शब्दो में आज जिस बात की हमें कमी है वह न तो वस्तुओ की कमी है और न संगठन की। वह उस अखण्ड इच्छाशक्ति और सर्वतोमुखी दृष्टि का अभाव है जो हमें अपनी शक्ति और

साधनों का ठीक प्रयोग करने के योग्य बना सके। इसलिए स्वभावतः इस रोग का निदान वस्तुओं या संस्थाओं के जगत् में न होकर चेतना के क्षेत्र में है। गान्धी जी की भाषा में कहा जा सकता है कि आज हमारी सर्वोपरि आवश्यकता संसार की विजय न होकर हृदय का परिवर्तन है। आज सबसे ज्यादा आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है, न कि भौतिक शक्ति की।

यही सर्वोपरि आवश्यकता सच्चे विश्वविद्यालय को मानव-जाति का भावी त्राणकर्त्ता बना देती है। अन्य मानवीय संस्थाएँ चाहे उनकी शक्ति या शस्त्र कैसे भी क्यों न हों इस विपत्ति के सामने फलहीन और असहाय हैं। यह ठीक है कि अपने विभिन्न रूपों में राज्य मानव-समाज की इन बुराइयों को दूर करने की कोशिश करता रहा है। इस दिशा में इसे सफलता भी मिली है, किन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि भूमण्डल पर न्यायपूर्ण समाज को पैदा करने के लिए राज्य को दाई और धाय मानने के परिणामस्वरूप ही जगत् में तानाशाही का जन्म और विकास हुआ है। इसका स्वाभाविक अर्थ ही यह है कि कुछ लोगों का अनेक लोगों पर प्रभुत्व हो। राज्य का प्रधान अस्त्र शक्ति है जो बनाती कम है और बिगाडती अधिक है। अत. जहाँ राज्य सामन्तशाही युग की अराजकता को मिटाने में सफल हुआ है वहाँ उसने राष्ट्रों और वर्गों की अराजकता को पैदा कर दिया है और उस अराजकता से आज मानव-जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड गया है। राज्य के समान ही अन्य सामाजिक संस्थाएँ भी मानव को हमारे युग की विपत्ति पर विजय पाने के योग्य नहीं बना सकतीं। इस पर काबू पाने के लिए हमें ऐसी सामाजिक चेतना की आवश्यकता है जो समस्त भूमण्डल में मानवीय हरकतों के हर पहलू और क्षेत्र को ठीक-ठीक तरह से पहचान ले और किसी एक वर्ग या राष्ट्र की खाल के अन्दर ही बन्द न रहे। यथावत् निर्मित और संचालित विश्वविद्यालय के अतिरिक्त और कोई संस्था इस प्रकार की एकीकृत और विश्वव्यापी चेतना की सृष्टि नहीं कर सकती। विश्वविद्यालय का सर्व-प्रथम कार्य मानव की चेतना को ठीक तरह ढालने और रूपित करने और विभेद भरी मानव-जाति की सामाजिक चेतना में अखण्ड एकता पैदा करने का है। हम सब जानते हैं कि प्रत्येक देश और युग में विश्वविद्यालय गत पीढ़ियों के विचारों को नयी पीढ़ियों को देने तथा नये तथ्यों की खोजों और पुराने तथ्यों के आगे विकास का द्विमुखी काम करता रहा है। दूसरे शब्दों में विश्वविद्यालय का यह ऐतिहासिक मिशन रहा है कि प्रत्येक नयी पीढ़ी को सामाजिक चेतना दे और इस प्रकार उसकी अपनी चेतना को ढाले और रूपित करे। किन्तु इस कार्य का एक निहित अंग यह भी है कि एक ही मानवीय समूह में एक साथ ही कार्यशील विभिन्न चेतनाओं का एकीकरण किया जाय। जब अन्य संस्थाओं में से प्रत्येक स्वभावत दूसरों से अलग करने वाली

संस्था नहीं होती तब विश्वविद्यालय भी अपने में न तो बन्द संस्था है और न हो सकती है।

मेरा विचार है कि नवयुग द्वारा लादे गये इस भार में सफलता प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय को कई बातें करनी पड़ेंगी। प्रथम तो मानव-समाज के विकास की कहानी के सम्बन्ध में इसे अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। आज तक इस कहानी की प्रधान बात मानव-समाज में शक्ति का स्थान है। इतिहास की लगभग प्रत्येक पुस्तक के अधिक भाग में युद्धों और संघर्षों का वर्णन होता है और उसका बहुत थोड़ा ही अंश सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों के विकास से सम्बद्ध होता है। योद्धाओं को ही, न कि वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कवियों अथवा कलाकारों को उसमें प्रमुख स्थान मिलता है। आज भी इतिहास की अनेक पुस्तकों से यही ध्वनित होता है कि मानव-जीवन के नाटक को गतिमान बनाने वाली और आगे बढ़ाने वाली शक्ति केवल संगठित भौतिक शक्ति ही है। किन्तु हिंसात्मक संघर्ष तो जीवन का दैनिक तथ्य नहीं है। यह तो एक ऐसा अपवाद है जो कभी-कभी ही देखने में आता है। मानव-जीवन का सूत्र एक युद्ध के बाद दूसरा युद्ध न होकर एक सृजनात्मक प्रयास के बाद दूसरा सृजनात्मक प्रयास है। अतः जो अनथक सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा मानव को भूमण्डल के अन्य सब जीवों से विभिन्न करती है उसी के आधार पर सारे मानव-इतिहास का पुनर्निर्वचन आवश्यक है। अब यह बात स्वीकार की जा रही है कि इतिहास अन्ततोगत्वा मानव-चेतना की ही कहानी है। मेरे विचार में अब समय आ गया है कि जगत् भर के विश्वविद्यालय मिल-जुलकर इस बात का संगठित प्रयास करें कि मानव की कहानी अपने मूलभूत तत्त्व अर्थात् सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा के आधार पर ही पुनर्निरूपित की जाय। सम्भवतः यह बात परम्परागत विचारों से कुछ बेमेल मालूम हो, पर मेरा यह विश्वास है कि मानव कोरी भौतिक शक्तियों का ही प्राणी नहीं है। वह अपने क़ाबू के बाहर की परिस्थितियों का ही असहाय दास नहीं है। उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य है कि उन परिस्थितियों को इच्छा के अनुकूल ढाल ले या रूपित कर ले और अतीत में उसने ऐसा अनेक बार किया भी है। यह विश्वविद्यालय का धर्म है कि वह उसकी इस सुप्त आत्मा को जाग्रत करे जो उसे अपनी परिस्थितियों का जिनमें से कुछ उसी की सृष्टि है, दास रहने के बजाय जैसा कि वह आज है उनका मालिक बना दे।

इस बारे में जो दूसरा परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है वह यह है कि इतिहास की पुस्तकों का मानक्षेत्र राष्ट्र के बजाय सारा भूमण्डल हो। आज राष्ट्र की ओट मानव को सर्वथा आँखों से छिपा देती है, पर अन्ततोगत्वा संसार के हर कोने में मानव की सृजनात्मक प्रेरणा ने ही उसे सभ्यता और संस्कृति के ताने-बाने को बुनने

के लिए मजबूर किया है। यह ठीक है कि उसमें बहुत प्रकार के धागे है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये सब मानव-आत्मा की सृष्टि हैं; यद्यपि इनमें प्रदेश, जलवायु और सामाजिक जीवन ने भी कुछ हद तक अपना रंग मिला दिया है। अतः इतिहास की सब पुस्तकों में प्रधान महत्त्व मानवात्मा को दिया जाना चाहिए और प्रदेश और समूह के प्रभाव को दूसरे दर्जे की महत्ता मिलनी चाहिए।

सामाजिक विकास की समस्या के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन के अतिरि त यह भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय वर्गों का अंग बने रहने के बजाय जन-जीवन से रल-मिल जाय। आरम्भ में जन-जीवन से यह इसलिए सर्वथा अलग था कि साधारण जनों के पास न तो इतना अवकाश था और न इतने आर्थिक साधन कि वे इसमें बराबर प्रवेश कर सकें। यह अलगाव इसलिए बना रहा कि बाजार के कोलाहल और उद्विग्नताओं से दूर रहकर प्रशान्त और पक्षपात-रहित वातावरण में इसके सदस्य सत्य की खोज में लगे रहें। किन्तु अब अवस्था बदल गई है और विश्वविद्यालय मानव-जाति के साधारण जनों की प्रभावयुक्त और सीधी सेवा कर सकता है। यह केवल ऐसा कर ही नहीं सकता, वरन् जन-चेतना की छत्रछाया में साधारण जनों को एकत्रित करने के लिए उसे ऐसा करना भी चाहिए। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भूतकाल में वर्गों की चेतना साधारण जन की चेतना से बहुत विभिन्न थी, किन्तु उन दोनो के बीच की इस इस मानसिक खाई से उन दिनो वैसे भयावह परिणाम होने का खतरा न था जैसा आजकल है। अगर यह अवस्था बनी रही तो इस बात का पूरा खतरा है कि कहीं सभ्यता का मन्दिर जलकर खाक न हो जाय।

एक और कारण से भी जनसाधारण के जीवन और अरमानो से विश्वविद्यालय का एकीकरण आवश्यक है। यदि अभाव के विरुद्ध जनसाधारण की वर्तमान क्रान्ति को सृजनात्मक और रचनात्मक दिशा की ओर न ले जाया गया तो यह ज्वालामुखी का ऐसा लावा सिद्ध हो सकता है जो अच्छी-बुरी सभी चीज़ो का विनाश करदे। इस क्रान्ति को ठीक दिशा में ले जाने की अविलम्ब आवश्यकता है। यदि विश्वविद्यालय, जिसका इस दिशा में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होना चाहिए, जनसाधारण से सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय कर ले तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को अपनी पृष्ठभूमि में यथास्थान रखने का कार्य यह सफलता से कर सकेगा और इस प्रकार जनसाधारण को वह सूझ और समझ दे सकेगा जो उनको अपने निर्वाचन सम्बन्धी अधिकारों को ठीक प्रकार से प्रयुक्त करने में समर्थ करदे।

जनसाधारण से विश्वविद्यालय का मेल इसलिए आवश्यक है कि वह उनमें वैसी चेतना पैदा करे जैसी कि नवयुग के लिए आवश्यक है। हमारे युग की इन दो क्रान्तिकारी शक्तियो का संयोग सम्पन्नता और शान्ति की दुनिया के निर्माण के लिए

तभी होगा जब जनसाधारण भी ऐसी चेतना से अनुप्राणित और संचालित हों।

इस विचारों की क्रान्ति के सर्वोपरि महत्त्व के संदर्भ में ही मैं राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालयों के असोसियेशन और इन्टर यूनिवर्सिटीज बोर्ड के संयुक्त सम्मेलन के महत्त्व को आंकता हूँ। मेरा विचार है कि राष्ट्रमण्डलीय विश्वविद्यालयों के नवनिर्माण में यह असोसियेशन महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। मेरी यह दृढ़ आशा है कि आपके विचार-विनिमय से विश्वविद्यालयों को यह प्रेरणा मिलेगी कि वे आगत युग में विचार-कार्य के क्षेत्र में नेता होने के अपने उचित स्थान को पहचानें और ग्रहण करें और वह आध्यात्मिक और चारित्रिक शक्ति तथा सूझबूझ प्रदान करें जो उस असीम शक्ति और साधनों का जिन्हें ज्ञान ने मनुष्य के हाथों में दिया है उचित नियन्त्रण और संचालन कर सकती है।

३

शिक्षा का माध्यम[1]

आपने मुझे जो इज्जत बख्शी है उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और साथ ही आपको यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि मै हमेशा ही इसकी कद्र करूँगा, क्योकि यह इस विश्वविद्यालय ने मुझे बख्शी है। यह हमारे देश का सबसे पहला विश्वविद्यालय है जिसने हमारे देश की भाषाओ में से एक को शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाया बल्कि जिसने विज्ञान और कला-सम्बन्धी सभी विषयो पर किताबें लिखवाने और छपवाने के बारे में भी बडा तामीरी काम किया है। अपने तरीके पर और शिक्षा-माध्यम के रूप में चुनी गई भाषा की अपनी सीमाओ के अन्दर जो काम यहाँ हुआ वह मुझे काफी हिम्मत बँधाने वाला लगा। इस सवाल में मैंने उसी वक्त से दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी जब से कि मैंने सार्वजनिक कामो में हिस्सा लेना शुरू किया था। मुझे इस बात की खुशी है कि इस बारे में अब जनता में काफी जाग्रति हो गई है और आजकल आम तौर पर शिक्षाशास्त्री और पढ़े-लिखे लोग यह मानते है कि अगर हमारे तालीम के काम में किसी तरह की ग़ैर-ज़रूरी और बचाये जा सकने वाले समय या ताकत की बर्बादी नहीं होनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा देशी भाषाओ में दी जाय। फिर भी हमने अपने सामने जो उद्देश्य रख छोड़े है उनको प्राप्त करने के लिए भाषा-नीति के सम्बन्ध में हमारे लोगो के कुछ तबको के विचारो में काफी धुंधलापन है।

आपकी अनुमति से मैं यहाँ उसी सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। मुझे यकीन है कि इस देश में हरएक यह जानता है—कम से-कम मै यह चाहता हूँ कि हरएक शख्स यह जाने—कि जिस सविधान को भारत की प्रभुतासम्पन्न जनता ने अपनी संविधान-सभा के द्वारा स्वीकृत किया है उसके अधीन हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस देश में लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना करें अर्थात् ऐसा समाज कायम करें जिसमें हरएक इन्सान और हरएक जमात को अपनी शख्सियत मे छुपी हुई सारी खूबियो को उभाड़ने और हासिल करने के पूरे-पूरे अधिकार और अवसर हो और जिसमें उनमें से हरएक को सघ और राज्य की सरकारो की नीति के बनाने में औरो के बराबर ही मौका हो। शिक्षा-माध्यम या माध्यमो की बात सोचते समय हम सबको

---

१ भाषण उस्मानिया विश्वविद्यालय का विशेष समावर्तन-समारोह।

अपने इस लाजमी कर्तव्य को अपने ध्यान में बराबर रखना चाहिए। यह कहने की मुझे आवश्यकता नहीं कि शिक्षा खुद बडी ताकत है और कम-से-कम इससे महरूम शख्स का न तो अपने पूर्ण विकास का ही और न अपने देश और इलाक़े की सरकार की नीति और कामो पर ही अच्छा असर डालने का कोई मौका मिल सकता है। इस-लिए यह बात साफ तौर पर जाहिर है कि शिक्षा के तरीके और जरिये ऐसे नहीं होने चाहिएँ जो एक आदमी को दूसरे आदमी या एक जमात को दूसरी जमात के मुक़ाबले में किसी तरह का बेजा फायदा पहुँचाते हों।

इस तरह जाहिर है कि प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की अर्थात् हर प्रकार की शिक्षा हरएक अच्छे-खासे बड़े भाषावार जमात के लोगो को उनकी अपनी भाषा ही के द्वारा दी जानी चाहिए। तभी दूसरे जमातो के मुकाबले में उस जमात को शिक्षा के लाभ प्राप्त करने में ज्यादा समय, रुपया और ताकत खर्च न करनी पडेगी। और दूसरी किसी तरह की नीति का परिणाम यही होगा कि उस जमात के मुकाबले में, जिसकी भाषा में इसके बच्चों को शिक्षा लेनी पड़ती है, यह जमात किसी क़द्र बुरी हालत में पड़ जायगी। इसका मतलब यही है कि हर भाषावार इलाके में नीची से लेकर ऊँची-से-ऊँची शिक्षा उसी इलाके की भाषा में दी जानी चाहिए।

पर साथ ही मैं यह बात भी जोरदार शब्दो में कह देना चाहता हूँ कि ऐसा करना तभी सम्भव होगा जब भाषावार जमात अच्छी-खासी बड़ी हो और एक ही खास अलग इलाके में बसी हुई हो। दूसरे इलाको के मुख्तलिफ हिस्सों में बहुत छोटी-छोटी टुकडियो में बिखरे हुए लोगो की सबसे नीचे दर्जे की शिक्षा के अलावा और तरह की शिक्षा के बारे में यह माँग जायज नहीं हो सकती कि उन इलाको की सरकारें उनके बच्चो की मातृभाषा में उनकी हर तरह की शिक्षा का प्रबन्ध करें। इस तरह की माँग के आर्थिक और अन्य प्रकार के नतीजों का अन्दाजा सहज लगाया जा सकता है। भारत के भली प्रकार से जाने हुए भाषावार इलाको में से हरएक में दूसरी भाषाओं के बोलने वाले लोग छोटी-बड़ी संख्या में मिलते ही है। अगर इस माँग के मुआफ़िक उन इलाको के इन हर भिन्न भाषा-भाषी लोगो के बच्चों की शिक्षा के लिए उस इलाके के हर स्कूल, हर कालेज और हर विश्वविद्यालय में अलग-अलग प्रबन्ध करना पड़े तो जाहिर है कि बेहिसाब खर्च होगा। साथ ही राजनीतिक दृष्टि से यह मुनासिब होगा कि किसी इलाके में इस तरह से दूसरी जबान वाली जमात के बिखरे हुए इने-गिने लोग उस इलाके के लोगो से अलग बने रहने और ऐसे विभेदों को, जिनसे उनके चारों ओर के लोगो की बहुत बडी संख्या को उनसे द्वेष और ग़लत-फ़हमी हो सकती है, बनाये रखने के बजाय उन लोगो में घुल-मिल जायें। आर्थिक

और राजनीतिक असलियत के इस पहलू को लोग ठण्डे दिल से समझ लें तो इस देश की भाषा की उलझन बड़ी हद तक दूर हो जायगी।

हर इलाके की भाषा का ऐसा विकास करना और उसके साहित्य के भण्डार को इस तरह बढाना आवश्यक है कि वह आधुनिक और प्राचीन यानी हर प्रकार के ज्ञान का अच्छा वाहन और भरा-पूरा खजाना बन जाय और हर इलाके की सरकार या सरकारों का यह कर्तव्य है कि जहां तक सरकार के किए कुछ हो सकता हो वहां तक वे इस तरह के विकास में सहायता करें और प्रोत्साहन दें। यह किसी भी भाषा की मौजूदा शक्ल और शब्दावली की बुनियाद पर ही आगे तामीर करने से और दूसरी देशी भाषाओं से सहज और स्वाभाविक रीति में हा जो खूबियां अपनायी जा सकती हों उनसे इस भाषा को सजाकर चलने से अच्छी तरह किया जा सकता है। इस तरह का भाषा-शुद्धि की कोशिश कि शब्दो, मुहावरो या किन्हीं व्याकरण के नियमो का बहिष्कार केवल इसी कारण कर दिया जाय कि वे बाहर से उधार आ गये थे और शुरू में उस स्रोत से नहीं निकले थे जिससे कि वह भाषा स्वय निकली है महज नाकामयाब ही न होगी बल्कि भाषा को भी गरीब बना देगी। इसके अलावा हमें अब अपनी ताक़त को हर तरह से सहेजकर इसलिए रखना है कि हम उसे अपने देश से गरीबी और अशिक्षा के मिटाने के जरूरी कामों में लगा सकें और इसलिए हम उसको ऐसे किसी काम में, जो अगर गड़बड़ करने वाला न हो तो बिलकुल गैर-जरूरी तो हो ही, खर्च नहीं कर सकते। ऐसी भाषा-शुद्धि के पक्ष में मुझे तो कोई भी वजह दिखाई नही देती, क्योंकि आखिर जबान तो महज जरिया है और अगर किसी लफ्ज को जनता बखूबी समझती है तो कोई वजह नहीं कि उसको इसी आधार पर निकाल बाहर किया जाय कि वह विदेशी है। इसके अलावा भाषा की बढोतरी ऐसी दिशा में होनी चाहिए जिससे वह अपने इलाके के अधिकाश लोगों को मान्य हो और उनकी समझ में आती हो। उसकी कथावस्तु, उसकी शैली, उसका शब्दकोष साधारण जनता के जीवन और बोली के ज्यादा नजदीक होना चाहिए। मेरा यकीन है कि समाज की और सस्थाओ के समान ही भाषा को जनता की गोद का सहारा लेने से काफी फायदा होगा।

इलाक़ो की भाषाओ के विकास और बढोतरी की बडी आवश्यकता के अतिरिक्त एक और सवाल है जिस प विचार करना जरूरी है। हमारा देश बहुभाषा-भाषी देश है। हमें एक ऐसी आम भाषा की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम मुख्तलिफ इलाको में और राष्ट्रीय मामलो में कारबार चला सकें। पूरे सोच-विचार के बाद सविधान सभा ने यह निश्चय किया कि वह भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा है और सघ के सरकारी प्रयोजनो के लिए उसके अंको का रूप अन्तर्राष्ट्रीय

अंकों का ही रूप होगा। यह सर्वसम्मत समझौता था और सब लोगों के हितों की समुचित सुविधा का ध्यान रखकर किया गया था। मेरी समझ में किसी शख्स या जमात के लिए यह सोचने की कोई वजह नहीं है कि इस निर्णय से उसके या उसकी जमात के हितो का किसी तरह का नुकसान होगा। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि मेरे लिए यही कहना काफी होगा कि हर भाषावार इलाक़े की शिक्षा-व्यवस्था में संघ-भाषा हिन्दी के पढ़ाने का प्रबन्ध रहना चाहिए। इस बात को खास तौर से कहना इसलिए जरूरी है कि अहिन्दी भाषा-भाषी लोग इस बारे में किसी तरह से दूसरे लोगों के मुक़ाबले में अपने को किसी क़द्र खराब स्थिति में न पायें। अहिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा-व्यवस्था में कैसे और किस दर्जे में हिन्दी शिक्षा को दाखिल किया जाय इस बात को बिना देर किये तय कर लेना चाहिए और जो भी योजना तय हो, उसे अमल में लाने के लिए कदम उठाये जाने चाहिएँ जिससे संविधान ने जो मियाद मुक़र्रिर की है उसके खत्म होते-होते हम संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए अंगरेजी के बिना भी काम चला सकें। हैदराबाद राज्य में तीन भाषायें हैं जो लगभग अलग-अलग इलाकों के लोग बोलते हैं और यह राज्य इस बात की बड़ी कोशिश करता रहा है कि उर्दू का पूरा विकास किया जाय। मैं उर्दू को उस भाषा की जिसे संविधान ने संघ-भाषा मान लिया है एक शैली या तर्ज और रूप ही समझता हूँ, हालांकि इसकी अपनी लिपि और अपना अलग शब्द-भण्डार है। इसलिए इस राज्य को इस बारे में वैसे ही कुछ सवाल सुलझाने हैं जैसे कि बहुभाषी सारे देश को सुलझाने हैं। अपने भिन्न इलाकों की तीन भाषाओं से भिन्न एक भाषा को राज्य की जरूरतों के लिए काम में लाने में तरक्की करने का इस राज्य को सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हमें यहां इस तरह जो तजुर्बे हुए उनकी भी हिफाजत करनी चाहिए और उनसे जो भी फायदे और सबक़ मिल सकते हैं लेने चाहिएँ। मैं यह महसूस करता हूँ कि हमारे लिए ये बड़े काम के साबित होंगे क्योंकि हम इस बुनियाद पर आगे काम बढ़ा सकते हैं। इस विश्वविद्यालय का यह फर्ज और यह खुशकिस्मती है कि वह इस बुनियाद पर ऐसी इमारत बनाये जो इसकी इज्जत बढ़ाये और जिससे हमारे देश का पूरा-पूरा फ़ायदा हो।

४

शिक्षा और सामञ्जस्य[1]

इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आज के भारत और संसार—दोनों के ही सामने ऐसी विषम समस्याएँ है जिनके सुलझाने के लिए न केवल वयोवृद्ध लोगो के अनुभव और गुरुता की ही जरूरत है, बल्कि आवश्यकता है युवको के अदम्य उत्साह, ज्वलत आशाओ और स्फूर्तिदायिनी शक्ति की भी। यदि यह कहा जाय कि संसार के नवनिर्माण की जिम्मेदारी इन्हीं के सर पर है तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि इस नवनिर्माण में कमर कसकर जुट जाना इनके अपने निजी हित में ही है, क्योंकि इनके भावी जीवन का रूप-रग इसी पर निर्भर करेगा कि आज की समस्याओ को इन्होंने कितनी तत्परता और किस खूबी से सुलझाया।

मै समझता हूँ कि इन लोगों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि इस जिम्मेदारी को सँभालने के लिए मानसिक और चारित्रिक तैयारी करने का अवसर इन्हें दिल्ली जैसे नगर के विश्वविद्यालय में मिला। यह तो सर्वसम्मत बात है कि विद्यार्थियो को जितना ज्ञान शिक्षको के लेक्चरो और पुस्तको से प्राप्त होता है उतना ही उस सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अनजाने और सहज ही मिलता रहता है जिसके बीच रहकर वे अपना जीवन यापन करते हैं। यह वातावरण जितना ही अच्छा होता है उतना ही विद्यार्थियो का जीवन सुसस्कृत और सभ्य बनता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इन युवक-युवतियो को यहाँ रहने और पढने के कारण अमूल्य सांस्कृतिक लाभ हुआ है, क्योंकि दिल्ली के वातावरण में कुछ ऐसी बातें है जो सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिलतीं। यह बात निःसकोच कही जा सकती है कि दिल्ली के गली-कूचो में भारत का सारा इतिहास समूर्त्त होकर बसा हुआ है और इसके निकट के खण्डहरो में तो शताब्दियों की प्रतिध्वनि सुनाई देती रहती है। भारत में और भी बहुत से शहर हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखते है, पर दिल्ली का इतिहास अनोखा है।

यहाँ इतिहास की तीन धाराओ का सगम हुआ है—ऐसी तीन धाराओ का

---

१. भाषण दिल्ली विश्वविद्यालय का २८वाँ समावर्तन-समारोह, ६ दिसम्बर, १९५०।

जो दुनिया के विभिन्न क्षेत्रो से निकलकर अनेक शताब्दियों और देशों में वहती हुई भारत के इस ऐतिहासिक नगर में मिलकर एक धार वन गई है और भारतवासियो के जीवन को उर्वर वना रही है और वनाती रहेंगी। इन धाराओ में प्रधान और सवसे प्राचीन वह धारा है जो वैदिक काल या उससे भी पूर्व हमारे देश में वहती रही है और जिसका पुनीत जलामृत हमारे देशवासियो की मानसिक प्यास को सदा तृप्त करता रहा है। उसने हमारे जीवन को हरिश्चन्द्र के वचन-पालन, दधीचि के आत्मोत्सर्ग, शिवि की दया, कर्ण की दानवृत्ति, राम के राजधर्म, कृष्ण के निस्पृह कर्मयोग, वुद्ध की अहिंसा और अशोक के धर्मचक्र के आदर्शों से समृद्ध वनाया है। हमारे जीवन का ऐसा कोई अंश नहीं जिसमें उसका प्रभाव विंध न गया हो और इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि जान में या अनजान में वह आज भी प्रतिक्षण हमारे जीवन और विचारो की दिशा को निश्चित करती है। दूसरी धारा वह है जो आज से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व अरव से वहती हुई हमारे देश में आई और इसी दिल्ली शहर में उस पहली धारा में मिल गई। कौन नहीं जानता कि इसी नगर में उस मिलीजुली भाषा, वेशभूषा, कला, साहित्य और विचार-शैली का जन्म हुआ जो यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों की है। उसने हमें कवीर का अनहद नाद सुनाया और सुनाई जायसी की प्रेमगाथा। उसने हमें वह शुभ्रश्वेत प्रस्तर-अश्रु दिया जिसमें शाहजहाँ का शोक मूर्त्तिमान होकर चिरस्थायी हो गया है। आज वह धारा हमारे जीवन का अभिन्न अंग वन गई है। उसी प्रकार कुछ शताव्दी पूर्व तीसरी धारा सुदूर पश्चिम से समुद्र पार करती हुई हमारे देश में आई और आकर इन दो धाराओ के सगम-स्थल नयी दिल्ली में उनमें मिल गई। उसने हमारे जीवन की गति को तीव्रतम कर दिया, उसके दायरे को वढ़ा दिया और नये विज्ञान और विधियो से हमारे जीवन को नियमित कर दिया। अतः इनमें से प्रत्येक धारा ने हमारी संस्कृति को समृद्ध और उन्नत वनाया है। इन्हीं तीनों धाराओ के इस संगम-तीर्थ दिल्ली में रहने और पढ़ने के कारण आप लोगो को अनायास ही इनके रग में रगे जाने का पूरा-पूरा मौका मिला है और मैं समझता हूँ कि आप इनके रंग में रग भी गये होंगे।

दिल्ली केवल इन ऐतिहासिक धाराओं का ही सगम नहीं, वल्कि भारत और दुनिया के विभिन्न प्रदेशो से वहकर आने वाली जातीय धाराओं का भी सगम-क्षेत्र है। यहाँ भारत की चारो दिशाओं के लोग वसे हुए हैं और भारत का ऐसा कोई प्रदेश या राज्य नहीं जहाँ के अधिवासी इस दिल्ली में व्यापार या वृत्ति या नौकरी के लिए आकर वसे हुए न हो। यह कहना गलत न होगा कि यदि कोई हमारे वहुभाषा-भाषी और विभिन्न रस्म-रिवाज वाले देश का सूक्ष्म रूप देखना चाहे तो उसके लिए दिल्ली देख लेना ही काफ़ी होगा। यहाँ उसको पुरातन और नवीन, उत्तर और दक्षिण, पूर्व

और पश्चिम, हर प्रकार के भारत के एक साथ ही दर्शन हो जायेंगे। इतना ही नहीं आज तीन वर्ष से तो इस दिल्ली नगरी में अमरीका और रूस, इंगलैंड और चीन, फ्रांस और वर्मा आदि सभी देशों के लोगो से सम्पर्क होता है। सचमुच ही दिल्ली एक सार्वभौमिक संस्कृति और समाज वाला नगर है। ऐसे नगर में विद्याध्ययन करने से आपको सहज ही भारत और ससार की विभिन्न जाति वालो से निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला होगा।

मैं समझता हूँ कि आप लोग स्वय विभिन्न प्रदेशों और जातियो के है और इस विश्वविद्यालय में कधे से कंधा मिलाकर पढते-खेलते और आनन्द मनाते रहे है। अतः आपको सक्रिय रूप में इस वात का अच्छी तरह से अहसास हो गया होगा कि हमारे भविष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इतिहास की ये तीनो धाराएँ दिल्ली के सगम-तीर्थ में एक होकर हमारे देश में वहें और प्रत्येक ग्राम और नगर और प्रत्येक घर और कार्यालय को जीवन और स्फूर्ति प्रदान करें। हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों और जातियों के लोगो के मनों को इस दिल्ली के द्वारा एक सूत्र में—ऐसे सूत्र में जो हवा से भी पतला है और इस्पात से भी मजवूत—वँध जाना चाहिए। कम-से-कम मैं तो यह दृढता से कह सकता हूँ कि सास्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य की ये महान् समस्याएँ हमारे सामने है जिन्हे हमें पूरी लगन और समझ-बूझ से हल करना है। मैं समझता हूँ कि इनके हल करने में दिल्ली जैसे विश्वविद्यालय और इसके विद्यार्थियो और स्नातको का पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। दिल्ली नगर का सास्कृतिक हृदय होने के नाते इस विश्वविद्यालय का वही सास्कृतिक और प्रादेशिक चतुराननी रूप है जो दिल्ली का है। इसमें भारत के हर कोने से आये विद्यार्थी है। इसमें इतिहास की इन तीन धाराओ में से अलग-अलग एक या एक से अधिक धाराओ में रगे युवक-युवती है—इसमें पुरातन भी है और नवीन भी। अत. इसकी तो यह अपनी समस्या है कि यह विभिन्न संस्कृतियो, विभिन्न ऐतिहासिक परम्पराओं और विभिन्न जातियो वाले विद्यार्थियो के जीवन में और मानसिक गठन में सामञ्जस्य स्थापित कर दे और इस प्रकार आन्तरिक सामञ्जस्य वाले युवक और युवतियो को सहस्रो की संख्या में भारत के प्रत्येक प्रदेश में सास्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य का अग्रदूत और वीर सिपाही वनाकर भेजे। अपनी आन्तरिक शान्ति और अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही नहीं, वरन् अपने शिक्षा-धर्म को निभाने के लिए भी इस विश्वविद्यालय और इसी का क्यो भारत के सारे विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि वे इस दिशा में और इन समस्याओ को तुरन्त सुलझाने के लिए कार्यरत हो जायें।

शिक्षा का मुख्य ध्येय यही है कि प्रत्येक आदमी के आन्तरिक जगत् में सामञ्जस्य हो और उसका वाह्य जगत् के अन्य प्राणियो से भी सामञ्जस्य हो। यद्यपि वाहरी तौर

1253

पर देखने में तो कोई भी आदमी एक ही लगता है क्योंकि उसके न तो दो मुख दिखाई देते हैं और न आठ हाथ-पांव, किन्तु यदि साधारण तौर पर एक दिखने वाले आदमी के आन्तरिक गठन को देखा जाय तो पता चलेगा कि उस एक के बदले में अनेक आदमी एक साथ ही मौजूद हैं। हमारे पूर्वजों ने दशानन, पंचानन, चतुरानन इत्यादि देवताओं, असुरों और आदमियों की जो कल्पना की थी, वह केवल थोथी कल्पना ही न थी। उसके पीछे यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी था कि ऊपर से दिखने में चाहे कोई कितना ही एक क्यों न लगता हो, किन्तु सम्भव है कि उसके अन्दर अनेक व्यक्ति एक साथ ही मौजूद हों। एक व्यक्ति में अनेक व्यक्ति होने की बात इसीलिए पैदा होती है कि मनुष्य की विवेक-बुद्धि, वासनात्मक बुद्धि और भौतिक इन्द्रियों में ऐसा चिर और सहज सामञ्जस्य नहीं है कि वह कभी टूटे ही नहीं। अभ्यास और ज्ञान द्वारा ही उसमें यह सामञ्जस्य कायम किया जा सकता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा इस सामञ्जस्य को स्थापित करने को ही हमारे यहां योग कहा जाता था। एक दफे योग द्वारा सामञ्जस्य स्थापित हो जाने पर ही यह सामञ्जस्य सर्वदा के लिए कायम नहीं हो जाता। प्रतिक्षण इसको बनाये रखने के लिए योग की साधना और तपस्या करनी पड़ती है। क्षण भर की भी गफलत से वह जीवन की कमाई खो सकता है। क्योंकि उतनी ही देर में यह सामञ्जस्य टूट सकता है और वासना उस पर विजय पा सकती है। इसीलिए तो हमारे यहां कहावत है कि—या जागे कोई जोगी या जागे कोई भोगी—सच तो यह है कि योगी कभी सोता ही नहीं। उसको सतत जाग्रत रहना होता है ताकि उसका यह आन्तरिक सामञ्जस्य, जिसके द्वारा उसका जीवन सफल होता है और उसे चिरस्थायी आनन्द और सत्य प्राप्त होता है, किसी क्षण भी न टूटे। जिस बात को हमारे पूर्वज योग कहते थे उसी को अपने विद्यार्थियों को देने का काम विश्वविद्यालयों का होना चाहिए। आज के शिक्षाशास्त्री इस बात को मानते हैं कि शिक्षा का ध्येय यही है कि विद्यार्थी के आन्तरिक जगत् में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाय और उसका व्यक्तित्व विभक्त और टुकड़े-टुकड़े न रह जाय।

इस प्रकार के विभक्त व्यक्तित्व का खतरा वैसे तो साधारणतया प्रत्येक समाज में और प्रत्येक समूह में बना ही रहता है, किन्तु यह उस समाज में कहीं ज्यादा हो जाता है जहां एक साथ ही कई संस्कृतियां, कई ऐतिहासिक परम्पराएं और कई सामाजिक शृंखलाएं एक स्थान पर ही मौजूद होती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की विभिन्नतायें मौजूद हैं और इसलिए हमारे देश में इस बात का पूरा-पूरा खतरा बना रहेगा कि हमारे करोड़ों नर-नारियों का व्यक्तित्व विभक्त बना रहे। यदि कहीं यह बात रही तो हमारा समाज और देश आन्तरिक कलह, द्वेष और अज्ञात मतभेद का शिकार बने रहेंगे और किसी प्रकार की उन्नति और प्रगति न कर सकेंगे।

अतः हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अविलम्ब ऐसी कार्यवाही करें जिससे हमारे देश का यह खतरा जल्द-से-जल्द दूर हो। यह बात तो स्पष्ट है कि इस खतरे को पुलिस के डण्डे और फौज की बन्दूक से दूर नहीं किया जा सकता और न इसको किसी कानून या अदालत के ज़रिये मिटाया जा सकता है। अगर यह दूर किया जा सकता है तो केवल सत-शिक्षा के द्वारा और यह काम हमारे विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं।

दुर्भाग्यवश जो विश्वविद्यालय हमारे यहाँ कायम हैं उनकी स्थापना ऐसे युग में हुई थी जब शिक्षा उतने से ही पर्याप्त समझी जाती कि थी वे विद्यार्थियों को अंगरेज़ी भाषा-साहित्य और भारत में लागू अंगरेज़ी कानून का इतना ज्ञान करा दें कि वे या तो सरकारी दफ्तरों और नौकरियों के काम करने के लिए योग्य हो जायें या अंगरेज़ी अदालतों में वकालत और पैरवी कर सकें। इसीलिए भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में अंगरेज़ी भाषा शिक्षा का माध्यम रखी गई और अंगरेज़ी साहित्य अनिवार्य विषय रखा गया। यह कैसी विडम्बना थी कि भारत के रहने वालों के लिए अपना साहित्य पढ़ना तो केवल ऐच्छिक विषय था, पर अंगरेज़ों का साहित्य पढ़ना अनिवार्य था। यह बात लगभग आज तक चली आ रही है। आज भी अधिकतर विश्वविद्यालयों में अंगरेज़ी भाषा और अंगरेज़ी साहित्य अनिवार्य विषय बने हुए हैं। मेरा न अंगरेज़ी से कोई द्वेष है और न अंगरेज़ी साहित्य के प्रति कोई उदासीनता। मैंने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में अंगरेज़ी भाषा और साहित्य में ही सर्वोच्च उपाधि हासिल की थी, किन्तु अंगरेज़ी भाषा और साहित्य में कितनी ही खूबी क्यों न हो, इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उसके अनिवार्य अध्ययन का और अपने साहित्य और संस्कृति की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में रटने की बुरी आदत पड़ गई। हमारे यहाँ के विद्यार्थियों के खिलाफ यह शिकायत बराबर सुनी जाती है कि वे रट्टू पीर होते हैं। पर मैं समझता हूँ कि वे रट्टू इसलिए नहीं हैं कि उनकी मानसिक और शारीरिक बनावट और देशों के विद्यार्थियों से भिन्न है, बल्कि इसलिए कि उस शिक्षा का उनके दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध और सम्पर्क न था जो उन्हें इन विश्वविद्यालयों में दी जाती थी। इन विद्यालयों की दीवारों के बाहर उन्हें अपना दैनिक जीवन, अपने पूर्वजों की आस्था, विश्वास, संस्कृति और भाषा छोड़ आनी पड़ती थी। यह ठीक है कि भारत की ही भूमि पर और भारत के ही आकाश के नीचे इन विद्यालयों की दीवारें और इमारतें बनी हुई थीं, किन्तु उनमें भारत न था। उनमें या तो इंगलैंड था या यूरोप। वहाँ पढ़ाई जाने वाली बातों का उनके अपने निजी घरेलू और शहरी जीवन से कोई सम्पर्क न होने के कारण उन्हें सहज में याद रखना सम्भव न था। उन्हें तो उन बातों को

जबरदस्ती अपनी स्मृति में ठूंसना था और इस कारण सिवाय रटन्त के और वे कुछ न कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियो और युवकों में वह सृजनात्मक शक्ति और वह अदम्य आत्मविश्वास न रहा जिसके बल पर भारतीयो ने विज्ञान, साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्रो में शताब्दियो तक अपूर्व कार्य किया था और जिसके वल पर उन्होने एशिया के महाद्वीप में संस्कृति और धर्म की गगा उस समय वहा दी थी जव न यात्रा के सहज साधन थे और न प्रोपेगण्डा के ऐसे प्रभावशाली यन्त्र जसे आजकल मनुष्य के हाथ में है।

इससे भी कहीं हानिकर परिणाम यह हुआ कि हमारे शिक्षित भाइयो का व्यक्तित्व विभक्त व्यक्तित्व होने लगा और उन्हे अपने जीवन में पेट भरने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन न दिखाई पड़ने लगा। इस प्रयोजनहीनता के कारण हमारे देश की कितनी हानि हुई और इन शिक्षित भाइयों का जीवन कितना नीरस हो गया इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अपने इस नीरस जीवन को रसमय वनाने के लिए इन्हें सिवाय ब्रिज और ताश या टैनिस के और कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। यह वात देखने में अचरजभरी अवश्य लगती है कि सरकारी नौकरी करते हुए भी अंगरेज सिविलियन इतिहास, समाज, शासन इत्यादि इत्यादि क्षेत्रो में पर्याप्त लेखन-कार्य कर सके, पर भारतीय शिक्षित राजकर्मचारियो में से इक्के-दुक्के को ही ऐसा करने की प्रेरणा हुई। पर मै समझा हूं कि यह वात इसीलिए हुई कि अंगरेजों के व्यक्तित्व में उतनी विभक्ति न थी, जितनी कि अंगरेजी शिक्षित भारतीयों में थी और इसीलिए ये भारतीय अपनी इस विभक्तता के कारण पूर्णतया मानसिक अपाहज बन गये थे। जहाँ विश्व-विद्यालयों का यह कार्य होना चाहिए कि वे व्यक्तित्व में सामञ्जस्य क़ायम करें, वहाँ हमारे विश्वविद्यालय उसको अंगरेजी भाषा और अंगरेजी साहित्य की कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करते रहे। हां, वर्षों की इस कार्यवाही के पश्चात् हमारे यहां कुछ भारतीय ऐसे हो गये है जो भारत की भूमि में भी केवल इंगलेंड के वातावरण के ही सम्पर्क में आते है। उनका अपना घरेलू रहन-सहन, दाम्पत्य जीवन, घर और बाजार की वातचीत और खत-किताबत की लिखने-पढने की भाषा, खाने-पीने का ढंग, वेषभूषा सभी कुछ अंगरेजी हो गई है और इस कारण आरम्भ में जो अंगरेजी साहित्य और अंगरेजी भाषा से व्यक्तित्व में विभक्तता होती थी, उसकी मात्रा उन कुछ लोगो के जीवन में कम होने लगी, पर फिर भी वह न तो विलकुल दूर हो सकती थी और न हुई।

बौद्धिक क्षेत्र में इसके कारण जो हानि हुई, उससे कहीं अधिक हानि इससे सामाजिक क्षेत्र में हुई। इन विश्वविद्यालयो के शिक्षित लोगो को उन लोगो के प्रति उदासीनता या उपेक्षा-भाव अथवा घृणा तक होने लगी जो अंगरेजी शिक्षा, साहित्य और सस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिए भारत के नगर-नगर में संस्कृति की ऐसी

अभेद्य दीवार खडी होने लगी जिसकी एक तरफ इंगलेंड के मानस पुत्र थे और दूसरी ओर भारतीय। गरीब-अमीर की दुनिया तो अलग होती ही थी अब अगरेजी पढो और वे अगरेजी पढों की दुनिया भी अलग होने लगी और इस प्रकार जो सामूहिक उद्योग और प्रयास किये जा सकते थे उनकी सुविधा न रही। इस दीवार के दोनो ओर रहने वालों में आपस में शंका और द्वेष का वातावरण वढने लगा और एक दूसरे का परिहास उडाने और एक दूसरे की मुखालफत करने की भावना बढने लगी। जहाँ नागरिक जीवन में इस प्रकार की विभक्तता पैदा हुई वहाँ ग्रामीण जीवन तो विनष्ट ही हो गया। ग्रामो में अगरेजी रहन-सहन वरतने वालो की सख्या अधिक न हो सकती थी क्योंकि उस तरह के रहन-सहन में अधिक खर्च पडता है और ग्रामवासियो के पास इतना फालतू धन था ही कहाँ? साथ ही ग्रामो में वे सुविधाएँ भी न थीं जो अगरेजी पढे-लिखे लोग चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि अगरेजी द्वारा शिक्षित भारत का सम्पर्क ग्रामीण भारत से बिलकुल टूटता गया। भारत के इतिहास में इससे पहले कभी यह न हुआ था कि शिक्षित लोग ग्रामो में न रहें और न जायें। सर्वदा ही पण्डित लोग ग्रामो में जाते थे और अनेक तो वहीं रहते थे और कथा, गाथा इत्यादि से ग्रामो का जीवन सुसंस्कृत और सभ्य बना रहता था। अगरेजी काल से पहले नगर और ग्राम की सस्कृति में कोई खाई न थी और उस समय ग्रामवासियों और साधारण स्थिति के नगरवासियो की वेशभूषा, खानपान और रहन-सहन में कोई बडा अन्तर नहीं दिखाई देता था। इसीलिए उस जमाने में नगर और ग्राम में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बड़ा गहरा रहता था। शहर की बेटी ग्राम में ब्याही जाती थी और ग्राम की शहर में। पर ऐसा होने से किसी को भी सस्कृति-भेद न होने के कारण कोई कष्ट या असुविधा न होती थी। पर अगरेजी राज्यकाल में नगर और ग्राम में संस्कृति की दृष्टि से इतना अन्तर हो गया कि अगर शहर की बेटी गाँव में ब्याही जाती तो उसे काफी तकलीफ और दु.ख भोगना पडता। इसलिए नगर और ग्राम के सामाजिक सम्बन्ध और भी टूटने लगे और दोनों का सम्बन्ध केवल इतना रह गया कि ग्रामवासी शहर में आकर नाज वेच जायें और कपड़ा मोल ले जायें। नगर और ग्राम के बीच इस प्रकार की खाई वढ जाने से देश और भी पगु होने लगा। साथ ही इस प्रकार की शिक्षा से ग्राम को यह हानि हुई कि उस के ऐसे वासी जिनकी बुद्धि कुशाग्र थी अथवा जो अन्यथा सक्रिय थे, ग्राम को छोड़कर नगर में वसने लगे। जो भी ग्राम का चतुर विद्यार्थी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर लेता था वह तो अपनी अंग्रेजी मनोवृत्ति के कारण भारतीय ग्राम में रहने की वात सोच ही न सकता था। फल यह हुआ कि जैसे सोख्ता पानी को पूरी तरह सोख लेता है उसी तरह ये विश्वविद्यालय बुद्धि-कुशाग्रता को ग्रामो से सोखने लगे और वहाँ केवल वही लोग वच गये जो बुद्धि में या चातुरी में पिछड़े हुए थे। जहाँ पहले ग्राम की बुद्धि

ग्राम के ही आर्थिक और सामाजिक जीवन मे लगती थी वहां अब वह ग्राम से सर्वथा चली आई और शहरो में रहने लगी। इस प्रकार इस शिक्षा-प्रणाली के कारण हमारे ग्राम अँधेरे और अशिक्षा के घर बन गये। इस तरह जिनका काम जाति को अमृत दान करना था वही उसको विष का प्याला पिलाते रहे।

अगरेजो के जमाने में इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का कोई भी आर्थिक और राजनैतिक महत्त्व क्यो न रहा हो, अब तो न वह है और न रहना चाहिए। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि सस्कृति और धन की दौड़ में और देशो में और हम में जो अन्तर पड़ गया है उसे जल्दी-से-जल्दी दूर कर दें। यदि हमने इस बारे में कोई ढील डाली या इसको पूरा न कर सके तो हमारी आजादी तो खतरे में पड़ेगी ही, हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायगा। इस अन्तर को दूर करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम में से हरएक पूर्ण एकाग्रता से और हमारी सारी जाति पूर्ण एकता और लगन से इस काम में जुट जाय। पर यह तो तभी हो सकेगा जब हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में जो विभक्तता और खाइयाँ पैदा हो गई है, वे पूरी तरह से दूर हो जायें।

इसका अर्थ यह है कि हमें दो प्रकार के कदम तुरन्त उठाने चाहिएँ। पहली बात, जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है, वह यह है कि इतिहास की इन तीन परम्पराओ के बारे में यह तय करलें कि इनमें हमें कैसे सामञ्जस्य स्थापित करना है। प्रत्यक्ष है कि यूरोप और अरब की दोनो धाराओ को यहाँ की मुख्य धारा में मिलना है। यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि मै यहां की प्रथम धारा को अरब या यूरोप की धारा से सांस्कृतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से बेहतर समझता हूँ। मेरी दृष्टि में बेहतरी और बदतरी का प्रश्न नहीं है। मेरे सामने तो केवल यही बात है कि प्रथम धारा हमारे देश के लगभग सभी आदमियो के सांस्कृतिक जीवन की बुनियाद में मौजूद है। कम-से-कम यह तो अकाट्य सत्य है कि वह यहाँ के ९० प्रतिशत वासियो के जीवन का सहारा है। अतः चाहे फिर यूरोप या अरब वाली धाराएँ पहली से अच्छी ही क्यो न हों, यह प्रयास सर्वथा असफल होगा कि प्रथम धारा को रोककर या बाँध बाँधकर अपने रास्ते से हटाकर बाद वाली धाराओं में जबरदस्ती मिला दिया जाय। प्रथम धारा से दूसरी धाराओ के मिलाने का अर्थ केवल इतना ही है कि वे अपने विशिष्ट तत्त्वो को प्रथम धारा के साथ प्रत्येक भारतीय के जीवन में पहुंचा दें और प्रत्येक भारतीय को उनका लाभ मिले। ग़ालिब के अशआर और शेक्सपीयर के ड्रामे महज कुछ चन्द लोगो की सम्पत्ति न रहकर अधिक-से-अधिक भारतवासियो की सम्पत्ति हो जायें। साथ ही आज जो लोग प्रथम धारा की कृतियो से नफरत करते है, वे कम-से-कम इस बात के जानने की तो कोशिश करें कि उन कृतियों में कोई खूबी है या नहीं। हमारे देश के रहने वाले हर

एक शख्स का फर्ज है कि वह इन धाराओ की सास्कृतिक देन को घृणा की या उपेक्षा की दृष्टि से न देखे, वरन् उन सबको चाव से पढे। जब मै शेक्सपीयर के ड्रामो की या गालिब के अशआर की बात कहता हूँ तो उसका यह मतलब नहीं कि उन्हे अगरेजी या फारसी से लदी हुई हिन्दवी जबान में ही पढना हर भारतवासी को जरूरी है। जो उन जबानो में उन्हे पढ़ना चाहते है या पढ सकते है, शौक से पढ़े, पर जो लोग इन जबानो को नहीं समझते, उनको ये सब अपनी ही भाषा में लभ्य होना चाहिए अर्थात् विश्वविद्यालयो को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे यूरोप और अरब और इनके अलावा अन्य ऐतिहासिक परम्पराओ की सास्कृतिक कृतियो का अनुवाद करायें और उनको विद्यार्थियो को मुहैया करें। पाठ्य-पुस्तको मे कुछ सबक ऐसे होने चाहिएँ जिन से इन ऐतिहासिक परम्पराओ का पता चले और उनकी कृतियो का आनन्द प्राप्त हो। यदि हम इस बारे में अपने सब भाइयो को साथ लेकर चलें तो हमें अपने मकसद को पूरा करने में बड़ी जल्दी कामयाबी होगी। मै समझता हूँ कि हमारी जनता और हमारे बुद्धिजीवी लोगो के बीच की दीवार तभी टूट सकती है और उनके बीच की खाई तभी पट सकती है जब ये बुद्धिजीवी लोग अन्य भारतीयो में हिले-मिले रहे और इनकी अलग जाति न बन जाय। इस बारे में यह कह देना मै जरूरी समझता हूँ कि राष्ट्रपिता गान्धी जी की सबसे बड़ी देन हमें यही थी कि उन्होंने अपने चर्खे, खादी, तीसरे दर्जे के सफर और भारतीय वेशभूषा के द्वारा हमारे शिक्षित वर्ग और जनता के टूटे हुए सम्बन्धो को जोड़ दिया था और इस प्रकार जाति को वह शक्ति, वह उत्साह और वह स्फूर्ति प्रदान कर दी थी जो शताब्दियो से उसमें न थी। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि वह बनी-बनाई एकता कहीं हमारी नासमझी से फिर न टूट जाय। आज ऐसे कुछ पढ़े-लिखे लोग है जो यह समझते है कि गान्धी जी ने हमारा जो भारतीय-करण किया था वह अग्रेजो के खिलाफ लड़ने के लिए तो ठीक था, किन्तु अब वह न केवल अनावश्यक है वरन् प्रतिक्रियावादी भी है। मै समझता हूँ कि ऐसे लोगो ने यह बात नही पहचानी कि जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी कदम न होगा। हमें प्रगति करनी है, हमें अपने देश में ज्ञान, साहित्य और कला का प्रसार करना है, पर इसका यह तरीका नहीं कि हम जनता के हृदय से अपने को काटकर अलग कर लें। मै समझता हूँ कि भारतीय वेशभूषा में भी विज्ञान का अध्ययन उसी खूबी से किया जा सकता है जैसा कि और किसी वेष में। भारतीय भाषा में साहित्य पढ़ने से उसका आनन्द जाता रहे, ऐसी बात तो नजर नहीं आती, फिर व्यर्थ में हम जनता से अपना सम्पर्क क्यो काट दें? इसलिए मै यह बल-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि विश्वविद्यालयो को भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की उपेक्षा अब न करनी चाहिए और अपने अनिवार्य विषयो में भारतीय साहित्य को रखना

चाहिए। साथ ही उन्हे इस वात का प्रयास करना चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके वे भारतीय भाषा या भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध करें, क्योंकि ऐसा करने से ही समाज और व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो विभक्तता मौजूद है, वह दूर की जा सकेगी।

दूसरा कदम जो मैं जरूरी समझता हूँ यह है कि हम यह मानलें कि अब इस बात का समय आ गया है कि ये विश्वविद्यालय ग्रामों की बुद्धि के सोख्ता न होकर उसे ब्याजसहित गाँवो को वापस देने की सस्था बन जायँ। यह बात तभी हो सकती है जब इन विश्वविद्यालयों का जीवन ऐसा न हो जो ग्राम से सर्वथा भिन्न है। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि ग्रामीण जीवन की बुराइयो को हम विश्वविद्यालय के जीवन में स्थान दें। पर मैं यह जरूर समझता हूँ कि इसके जीवन में तड़क-भड़क और फैशनपरस्ती की कोई आवश्यकता नहीं और न ये बातें उसमें होनी चाहिएँ। बापू के आश्रम में जीवन ग्रामीण जीवन-सा ही था। हां, उसमें ग्रामों के दोष न थे। मेरा विचार है कि हमें बहुत-कुछ उसी तरह का जीवन इन विश्वविद्यालयों में रखना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सके तो यहाँ के विद्यार्थियों को ग्रामो में जाकर उनको प्रगतिशील और सभ्य बनाने में कोई मानसिक या सास्कृतिक हिचकिचाहट न होगी।

यदि विश्वविद्यालयो में जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ऐसा परिवर्तन हो गया तो मैं समझता हूं कि आज नगरों में जो सांस्कृतिक दीवारें खड़ी हो गई हैं, आज ग्राम और नगर का जो सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है और आज ग्राम से जो बुद्धि और कौशल नगरो में व्यर्थ खिचा चला आ रहा है और आज हमारे शिक्षितो के व्यक्तित्व में जो विभक्तता है, उन सबकी बहुत-कुछ समाप्ति हो जायगी।

विश्वविद्यालयों में इस प्रकार दृष्टिकोण के क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का भार विश्वविद्यालयो के सचालकों का है। यदि वे यह मानते है कि ये विश्वविद्यालय भारतीय जनता के सेवक है और इन्हीं के द्वारा जन-जीवन में ज्ञान की ज्योति और आदर्श का प्रेम फैलाया जा सकता है और यदि वे अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि भारतीय जन-जीवन में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले सिपाहियों को उन्हें पैदा करना है, तो मैं समझता हूँ कि वे इस बारे में विचारपूर्वक सक्रिय क़दम उठायेंगे।

साथ ही आप स्नातक और स्नातिकाओं का कर्तव्य है कि आप अपने देशवासियों के प्रति उस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए जो उन्होने अपनी गाढ़ी कमाई से आपको शिक्षा देकर आप पर लाद दी है और साथ ही उनसे स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध कायम करने के लिए और उनकी सेवा के लिए अपने को उत्सर्ग कर दें। लाखो घरों और झोपड़ियों में आपको प्रकाश पहुँचाना है। आपके पास वह ज्योति है जो दूसरो को ज्योति देने से और बढ़ती है। आपके पास वह

धन है जो जितना ही दान में दिया जाय बढता ही जाता है। आप इनको देकर भारत के बच्चे-बच्चे में नवजीवन की लहर भर सकते है। सुदृढ विश्वास और मजबूत कदमो से आगे बढिए और इतिहास की और अपने देश-भाइयो की आकाक्षा इस कर्तव्य को निभाकर पूरी कीजिए।

५

शिक्षा की नयी रूपरेखा[1]

आप जानते हैं कि हाल ही में गवर्नमेण्ट ने एक यूनिवर्सिटी कमीशन मुकर्रर कया था जिसके प्रधान डॉक्टर राधाकृष्णन् थे और जिसमें इस देश के अलावे इंगलैंड और अमेरिका के भी विद्वान् सदस्य थे। उन्होंने परिश्रम करके सभी विश्वविद्यालयो की अध्यापन-पद्धति और दूसरी बातो की जांच की है और एक बडी व्यापक रिपोर्ट दी है जिसमें शिक्षा के सभी पहलुओ पर बहुत गहराई से विचार किया गया है और बहुत ही मार्के का सुझाव दिया गया है। मै समझता हूँ कि भारतवर्ष की सभी यूनिवर्सिटियाँ उस रिपोर्ट पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगी और आप भी उसमें से जो कुछ आपके योग्य बताया गया हो मंजूर करेंगे। मैं केवल एक विषय की ओर आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। दो कारणों से इस सूबे का उस विषय से विशेष सम्बन्ध है। एक तो यह है कि इस सूबे में इन्हीं ३०-३५ वर्षों के अन्दर शिक्षा का प्रचार बहुत बढा है। स्कूलो की संख्या तो बहुत बढ़ी ही है, कालेजो की संख्या भी बहुत बढी है और बढ़ती जा रही है। पर शिक्षा-पद्धति में और कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जो कुछ पटना यूनिवर्सिटी के अनुसार चल रहा था उसी को घटा-बढ़ाकर इन नये खोले गये स्कूलो तथा कालेजो में भी जारी रखा गया है और इस बात की भी कोशिश हो रही है कि नयी यूनिवर्सिटियाँ भी कायम की जायें। यह सन्तोष की बात है कि लोगों में शिक्षा सम्बन्धी उत्साह और दिलचस्पी देखने में आ रही हैं, पर इतना ही काफी नहीं है। उस उत्साह का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय तभी उससे अपेक्षित अच्छा फल निकल सकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धति की बड़ी त्रुटि यह रही है कि जो लोग यूनिवर्सिटी से पढ़कर निकलते है वह उनको न तो किसी विशेष धन्धे के योग्य बनाती है और न उन्हे ऐसी व्यापक विद्या ही देती है कि आधुनिक दुनिया के शिक्षित समाज में उनको कोई अच्छा स्थान मिल सके। इस तरह वह विद्या न तो अर्थकारी होती है और न ज्ञानदायी। एक बुरा नतीजा यह भी होता है कि जो शिक्षा पा लेते हैं वह हाथ से काम करने और शरीर-श्रम को हेच निगाह से देखने लगते हैं। बहुत वर्षों की बात है, मेरे गाँव के नजदीक के एक लड़के ने जिसके घर के लोगो से मेरा परिचय था, मेरे पास

---

१. भाषण पटना विश्वविद्यालय का समावर्तन समारोह, २ मार्च, १९५०।

पत्र लिखा कि मैं मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास कर चुका हूँ,मुझे कोई नौकरी दिलवा दीजिए। मैं अब घर का वह काम नहीं कर सकता जो और लोग करते हैं। वह अच्छे किसान-घर का लड़का था और घर के लोग खेती करके सुख से रहा करते थे। उस काम को करने में वह अपने को असमर्थ पाता था और नौकरी की फिक्र में था जिसमें न तो कोई विशेष प्रतिष्ठा मिलती है और न बहुत पैसे। मैंने इसमें उसका कोई दोष नहीं देखा। यह दोष शिक्षा-पद्धति का था कि वह अपने खानदानी काम को तुच्छ समझने लगा और किसी नये अच्छे काम के योग्य भी नहीं हुआ। यही सिलसिला अब बहुत जोरो से और बहुत बड़े पैमाने पर इस देश में बढ गया है और बढ़ता ही जा रहा है जिसका नतीजा दो प्रकार से देश के लिए बहुत ही हानिकर हो रहा है। यो तो अक्षर-ज्ञान से और थोड़ा-बहुत जो कुछ स्कूलो में और कालेजों में लोग सीख लेते हैं उससे उनको कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता ही है, पर समाज को दो विशेष नुकसान पहुँचते हैं। पहली बात तो यह होती है कि इस प्रकार से शिक्षित होने वाले अपनी जैसी योग्यता समझते हैं, उसकी दूसरे न तो उतनी कद्र करते हैं और न जितनी आशा लेकर वे शिक्षा समाप्त करते हैं, वह समाज पूरी करता है और इसका नतीजा यह होता है कि उनके दिलों में समाज और अपनी सारी जिन्दगी के प्रति एक प्रकार का द्वेष और संघर्ष पैदा हो जाता है और उनकी सारी जिन्दगी निराशापूर्ण हो जाती है। वह एक हतोत्साह और थके हुए मनुष्य की तरह नवजवानी से ही अपने दिन गिनने लगते हैं, और किसी चीज में न तो उनकी दिलचस्पी रह जाती है और न कोई जीवन में उच्चाभिलाषा। दूसरे, वह जो कुछ सीखते और जानते हैं उसका लाभ गाँवो को नहीं मिलता, क्योंकि इस प्रकार के शिक्षित लोग गाँवों में रहना पसन्द नहीं करते। उनकी जिन्दगी ही ऐसी बन जाती है कि वह शहर की चहल-पहल को पसन्द करने लगते हैं और इतने अधिक शिक्षित लोगो के बावजूद हमारे गाँव जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। शहरो की आबादी बहुत बढती जा रही है। शिक्षित, उत्साही और उच्चाभिलाषी, सभी लोग गाँव को छोड़कर शहरो में आ जाते है, चाहे वहाँ आने पर उनकी कुछ भी दुर्गति हो। गाँवो की स्वस्थ जिन्दगी उनसे छूट जाती है और शहरो का सुख बहुत थोड़े ही लोगो को नसीब होता है। इस तरह एक ओर समाज के प्रति असन्तोष और द्वेष की भावना बढ़ती है और दूसरी ओर जो गाँवो को उन्नत बना सकते थे, वह असफल मनोरथ होकर शहरवासी बन जाते है। इससे देश का कितना बडा नुकसान होता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। जिन लोगो ने इस विषय का अनुसधान किया है उनका कहना है कि जो लोग गाँव से आकर शहरो में बसते हैं उनका पेशा तीन-चार पीढी से अधिक नहीं चलता और इस तरह अच्छे-से-अच्छे लोग गाँव से शहरो में आकर अपनी समाप्ति कर देते है। इसलिए इन स्कूलो, कालेजों तथा

यूनिवर्सिटियो को वढ़ाते चले जाने के पहले इस विषय पर हमको सोचना चाहिए कि क्या इस पद्धति को जारी रखना जरूरी है और क्या इससे सचमुच हम लाभ उठा रहे हैं या केवल भेडियाधसान कर रहे हैं।

इसके अलावा इस प्रान्त में एक वड़े मार्के का काम हुआ है। जव सन् १९३८ में महात्मा गान्धी जी ने नयी तालीम की योजना देश के सामने रखी तो सभी प्रान्तो में कुछ-न-कुछ काम शुरू किया गया। इस प्रान्त का यह सौभाग्य रहा कि यद्यपि वह प्रयोग छोटे पैमाने पर शुरू किया गया, तथापि वह किसी-न-किसी तरह एक प्रकार से पूरा हो सका और देखा गया कि यद्यपि वातावरण और परिस्थिति पूरी तरह से अनुकूल नहीं थी तो भी जो सुविधा मिली उससे ही वह प्रयोग सफल सावित हुआ। मैंने सुना है और मुझे यह जानकर वड़ा सन्तोष हुआ है कि अव उसको और भी वढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे भी वढकर सन्तोष का विषय यह है कि जनता इस विषय में वहुत दिलचस्पी ले रही है और अपनी दिलचस्पी और उत्साह को क्रियात्मक रूप में जमीन का दान देकर और दूसरे प्रकार से पूरा कर रही है। इसका अधिक प्रसार और प्रचार हो रहा है और मै इसमें वहुत आशा के चिह्न देख रहा हूँ।

यूनिवर्सिटी कमीशन की रिपोर्ट में एक वड़ा अध्याय ग्रामीण यूनिवर्सिटी के नाम से दिया गया है। इसमें यह दिखलाया गया है कि जो नयी तालीम या वुनियादी तालीम गान्धी जी ने आरम्भ की थी उसको और भी किस तरह वढ़ाया जा सकता है, उच्च शिक्षा किस तरह गांवो में रहते हुए लोगो को दी जा सकती है और किस तरह उच्च शिक्षा को पाकर भी लोग गांवो में रहते हुए स्वयं अधिक सुखी रह सकते हैं और साथ ही गाँवों की भी उन्नति कर सकते है। इसलिए मैंने कहा कि उस रिपोर्ट के इस अध्याय का विशेष महत्त्व है, क्योकि यहाँ प्रचलित प्रथा के अनुसार विद्यालय वढते जा रहे हैं और उनके द्वारा गांवो के हित के वदले अहित होना अधिक सम्भव है। यदि इस पद्धति का रुख वदल दिया जाय जिसके लिए वुनियादी तालीम ने वुनियाद डाल दी है और जमीन तैयार कर दी है तो सारे प्रान्त का सुधार हो जाय और उसकी हालत ही वहुत कुछ वदल जाय। मै चाहता हूँ कि यूनिवर्सिटी के लोग और दूसरे लोग जो शिक्षा में दिलचस्पी रखते है इस विषय का अध्ययन करें और शिक्षालयों का रुख, कार्यक्रम और शिक्षा-पद्धति वदल दें जिससे जो लाभ रिपोर्ट में नयी पद्धति में दिखलाया गया है वह हम उठा सकें, जो उत्साह आज जनता में देखने में आ रहा है उसका सदुपयोग हो जाय और जिस तरह हम वुनियादी तालीम के प्रयोग में आगे रहे है उसी तरह इस प्रयोग के नतीजे में पूरा-पूरा लाभ उठाकर जो नयी दिशा ग्रामीण यूनिवर्सिटी क़ायम करने की ओर रिपोर्ट में दिखलाई गई है उस ओर हम आगे

बढ़ें। जो लोग नये कालेज और नयी यूनिवर्सिटी खोलने की फिक्र में है उनसे मेरा अनुरोध है कि विशेषकर इस विषय पर विचार करे और लकीर के फकीर न बनकर नये रास्ते पर चलकर देश का लाभ करें।

रिपोर्ट में कहा गया है कि यूनिवर्सिटी कमीशन ने यह विचार डेनमार्क के गाँवो के लिए वहाँ की ग्रामीण शिक्षा-पद्धति द्वारा जो कुछ किया गया है उससे और जो बुनियादी तालीम की नींव गान्धी जी ने डाली थी उससे प्रभावित होकर किया है। डेनमार्क यद्यपि एक छोटा-सा देश है जिसकी सारी आबादी ४० लाख के लगभग है, तथापि वह एक सुखी लोगो का देश है। उसमें सभी लोग शिक्षित भी है और उसमें धनी के धन और गरीब की गरीबी में इतना बड़ा अन्तर नही है जितना और देशो के धनी और गरीबो में पाया जाता है। सभी लोग प्रायः मध्यम वृत्ति के है और बिना किसी दूसरे देश और दूसरे लोगो के साथ इस प्रकार का विशेष सम्बन्ध रखे हुए जो यूरोप के अनेक देश एशिया और अफ्रीका के देशो के साथ सम्बन्ध रखते है वह सुखी है। अन्य सब बातो में भी वह यूरोप के दूसरे देशो के मुकाबले में कम उन्नत नहीं है, बल्कि कई बातो में यूरोप के लोग ही उसे अधिक उन्नत मानते है। इसका एक विशेष कारण उनकी शिक्षा-पद्धति है जिसका आरम्भिक भाग बुनियादी शिक्षा में और अन्तिम श्रेणी ग्रामीण यूनिवर्सिटी मे देखी जा सकती है। यह नयी पद्धति केवल हमारी शिक्षा में ही क्रान्ति नहीं लायेगी, अपितु हमारे जीवन में भी क्रान्ति लायेगी। इसमे अन्य लाभ तो होगे ही, हमारी प्राचीन सभ्यता और सस्कृति का भी आधुनिक विज्ञान के साथ ऐसा सुन्दर समन्वय हो जायगा कि वह सबके जीवन के लिए एक आदर्श रूप होगा। इसलिए मै चाहता हूँ कि जो लोग बिहार में नयी यूनिवर्सिटी स्थापित करने की सोच रहे है, वह केवल पुरानी यूनिवर्सिटियो की नकल करके ही सन्तुष्ट न हो, इस ग्रामीण यूनिवर्सिटी की योजना को ही मानकर अपना काम पूरा करें। जब से मेरा सम्पर्क पूज्य महात्मा गान्धी जी के साथ हुआ तब से ही मेरा आदर मौजूदा पद्धति और शिक्षा-संस्थाओ के प्रति कम हो गया और यद्यपि मेरे कई मित्रो ने पुराने ढर्रे की संस्थाओ की स्थापना के लिए बहुत परिश्रम किया, तथापि मुझे कोई विशेष दिलचस्पी उसमें नही रही। मै राष्ट्रीय विद्यालयो और नयी तालीम के साथ काफी दिलचस्पी रखता रहा हूँ और आज जब प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हो गई है और यूनिवर्सिटी कमीशन की सिफारिशें सामने आ गई है तो मेरी दिलचस्पी इन नयी तालीम में और ग्रामीण यूनिवर्सिटी से और भी बढ गई है और मै चाहता हूँ कि यह प्रयोग जिसे बिहार ने सफलतापूर्वक चलाया है, आगे की सीढियो पर बढे और ग्रामीण यूनिवर्सिटी की स्थापना सबसे पहले करके नया आदर्श देश के सामने रखे।

ग्रामीण यूनिवर्सिटी के अलावे मौजूदा यूनिवर्सिटी के सुधार के लिए और उनकी प्रगति के लिए नयी दिशा का निर्देश भी बहुत ही सुन्दरता और गम्भीरता के साथ यूनिवर्सिटी कमीशन ने किया है। मै उसकी चन्द सिफारिशो की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे इस यूनिवर्सिटी को और इससे सम्बद्ध स्कूलो और कालेजो को आप सुधार सकें। मै यहाँ केवल इशारा मात्र कर सकता हूँ। पूरी सिफारिश और उसके महत्त्व को समझने के लिए तो रिपोर्ट को ही पढ़ना चाहिए। गणराज्य की सफलता के लिए उन लोगो में, जिनके हाथो में अधिकार दिया गया है, कुछ गुण होने चाहिएँ। लोग बहुधा यह कह दिया करते है कि इस देश के लोग निरक्षर है इसलिए वह बालिग मताधिकार का ठीक उपयोग नहीं करेंगे। मै यह नहीं मानता हूँ। मेरा विचार है कि अक्षर-ज्ञान के बिना भी हमारे देश के लोगों में संस्कृति की ऐसी पुट है और साधारणतया उनमें इतनी बुद्धि और विवेक है कि यदि उन्हे उनके स्वत्वो और दायित्वो को ठीक समझा दिया जाय तो वे इस अधिकार का सदुपयोग करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अक्षर-ज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व नहीं देता हूँ। उनका महत्त्व है पर मै नहीं मानता कि जब तक वह ज्ञान जनता को प्राप्त न हो जाय तब तक वह निकम्मी बनी रहेगी। बात यह है कि जिस प्रकार का पुस्तकीय ज्ञान आज हमको मिलता है वह कुछ बहुत काम का नहीं है। विशेष-कर नयी परिस्थिति में उससे उतना काम नहीं निकलेगा जितने की हम अपेक्षा करते है। यूनिवर्सिटी कमीशन ने इस बात को समझकर प्रचलित पद्धति में हेरफेर करने की सिफारिश की है। एक मार्के की सिफारिश यह है कि किसी विशेष विषय के ज्ञान से ही हमको सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। विशेष ज्ञान के पहले साधारण ज्ञान ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को जीवन-संग्राम में सफल बना सके, उसकी विवेक-बुद्धि को इस तरह जाग्रत कर सके कि जो प्रश्न उसके सामने आवे उसको वह समझ सके और आवश्यकतानुसार निर्णय कर सके; जो अधिक ज्ञान प्राप्त करने की परिभाषा को हमेशा जाग्रत रखे और जिससे प्रत्येक मनुष्य इसका स्थान समाज और देश मे ठीक बताये और अपने कर्तव्यो के प्रति निष्ठा जाग्रत करे। इस प्रकार की शिक्षा को उन्होने जनरल एजुकेशन का नाम दिया है। मै इसे एक बड़े महत्त्व की सिफारिश मानता हूँ कि इस पर उन्होने इतना जोर दिया है।

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उन्होने बहुत गवेषणा की है और बतलाया है कि मातृभाषा का और राजकीय भाषा का शिक्षाक्रम में क्या स्थान होना चाहिए और उनके अभ्यास के लिए कितना समय और श्रम लगाना चाहिए तथा जहाँ की राजकीय भाषा और मातृभाषा एक ही है, वहाँ के लोगो के लिए संस्कृत अथवा दूसरी प्राचीन भाषा का और भारत की दूसरी प्रान्तीय भाषाओ में से कम-से-कम एक का ज्ञान किस

तरह और क्यो आवश्यक है। हिन्दी-प्रदेश होने के नाते इस सम्बन्ध में विहार का विशेष दायित्व है और विहार की यूनिवर्सिटी को अपना कर्तव्य समझकर इसे पूरा करने में अग्रसर होना चाहिए। मै मानता हूँ कि जो पन्द्रह वर्ष की अवधि हमारे संविधान में अंगरेजी को राजकीय भाषा रहने के लिए दी गई है वह इसलिए दी गई है कि एक तरफ तो हिन्दी इतनी समृद्ध और सुगम हो जाय कि उसमे सब काम आसानी से चलाया जा सके और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रदेशो के लोग हिन्दी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लें कि वह हिन्दी-भाषियो के मुकावले में पीछे न रह जायें। इन दोनो उद्देश्यो को पूरा करने में हिन्दी-भाषी प्रान्तो की यूनिवर्सिटियाँ वहुत काम कर सकती है। हिन्दी की शब्दावली को वढाना, हिन्दी-रचना और व्याकरण की लेखन-शैली की उन्नति करना और हिन्दी-साहित्य मे सभी विषयो के उच्चकोटि के ग्रन्थो का निर्माण करना हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा बनाने के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर अहिन्दी प्रान्तो मे हिन्दी के सम्यक् और शीघ्र प्रचार के लिए हिन्दी भाषी लोगो की सहायता और सेवा आवश्यक और अपेक्षित है। इसलिए पटना यूनिवर्सिटी का एक धर्म यह है कि वह इन दोनो प्रकार के कामों को हाथ में ले और तेजी से आगे वढे। इसे एक अच्छा सुअवसर भी मिला है। आपके वाइस-चान्सलर इस काम को अच्छी तरह कर सकते है। उनमें योग्यता है और उनके सामने अपने पूज्य पिता वावू रामदीन सिंह और अग्रज वावू रामरण विजयसिंह का हिन्दी के प्रति प्रेम और सेवा का उदाहरण है जिसके अनुसार चलना एक प्रकार से पैतृक ऋण चुकाने के समान है।

यूनिवर्सिटी कमीशन ने विद्यार्थियो के चरित्र-गठन के सम्बन्ध मे भी जो सिफारिश की है वह विचारणीय है। साधारण लोगों के सामने सच्चरित्रता का नमूना पेश करना शिक्षित लोगों का धर्म है। वह मौखिक व्याख्यानो द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिए उनको स्वयं सच्चरित्र होना होगा और अपने जीवन द्वारा दूसरो को शिक्षा देनी होगी। हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति मे यह एक वड़ा दोष रहा है कि चरित्र-गठन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। शायद ऐसा मान लिया गया है कि इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, पर मै इसे भारी भूल समझता हूँ। यदि एक छोटी-सी पुस्तक मे लिखी वातो में परीक्षा देने के लिए लम्बी तैयारी करनी पड़ती है, तो चरित्र जो मनुष्य के रहन-सहन, रग-ढग सवको प्रभावित करता रहता है अनायास ही विना श्रम के ही ठीक ढल जायगा, यह एक दुराशा-मात्र है। इसलिए हमारे सारे कार्यक्रम में कुछ ऐसे क्रियात्मक प्रयोग अथवा उद्योग होने चाहिएँ जो चरित्र को ठीक ढाँचे पर ढाले या सत्य के प्रति श्रद्धा और सेवा के प्रति प्रेम देखने की शक्ति दें।

हमारी शिक्षा-पद्धति मे आजकल परीक्षाओ का वड़ा ऊँचा स्थान और महत्त्व

हैं। इस सम्बन्ध में भी कमीशन ने अपनी सिफारिशें की हैं। मैं इन चन्द बातों की ओर आपका ध्यान इसलिए आकर्षित कर रहा हूँ कि आप इन पर, विशेष करके दूसरी सिफारिशों पर, गम्भीरतापूर्वक विचार करें और अपनी पद्धति में आवश्यक सुधार करें जिससे आज की नयी परिस्थिति में यह सूबा शिक्षा-संस्थाओं से पूरा लाभ उठा सके।

६

शिक्षा और आत्मविद्या[1]

आज प्रायः ३६ वर्षों के वाद मुझे इस विशाल भवन में फिर एक वार उपाधि लेने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। मैंने एम एल की परीक्षा पास करके १९१७ के जनवरी मास में एम एल. की उपाधि और सोने का पदक पाया था। उसके थोड़े ही दिन पहले मुझे कलकत्ता छोड़कर, जहाँ मैंने १५ साल अध्ययन और वकालत में विताये थे, विहार जाना पड़ा था। जव मुझे वे वातें याद आती हैं तो हृदय गद्‌गद् हो जाता है। वे दिन भारतवर्ष के लिए अत्यन्त महत्त्व के दिन थे, क्योकि उन्हीं दिनो बग-विच्छेद के वाद एक देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ हुआ था। न केवल बंगाल के प्रमुख राजनीतिक नेताओ के साथ ही कलकत्ते के विद्यार्थियो का सम्पर्क हुआ करता था, वलिक उन दिनो कलकत्ते के देश की राजधानी होने के कारण यहाँ देश और विदेशो से जो वडे लोग आया करते थे उनसे भी उनका सम्पर्क होता था और यहाँ के वायुमण्डल में नवजीवन, नवअभिलाषाएँ और नवाकाक्षाएँ हिलोरें मारा करती थीं। मैं उनसे प्रभावित हुए विना नहीं रह सका। जव मैं पिछले ५० वर्षो के अपने जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ तो ऐसा मालूम पडता है कि जो कुछ मैं हुआ हूँ और जो थोड़ी-वहुत सेवा मैं कर सका हूँ उसका वहुत वडा श्रेय वगाल और कलकत्ते को है और उनमें विशेष कर उन सज्जनो को है जिनसे हमारा घनिष्ठ सम्पर्क हुआ और जिन्होने अपने जीवन से हमारे ऊपर अमिट रूप से प्रभाव डाला। इसलिए मैं इस पदवी को पाकर और भी अधिक गौरव का अनुभव करता हूँ। यहाँ से विहार वापस जाने के थोड़े ही दिन वाद मैं और सव काम छोड छाडकर राजनीति के प्रवाह में वह गया और तव से आज तक उसमें डूवता, उतराता, तैरता रहा हूँ। मुझे उस जीवन से जो महात्मा गान्धी के सम्पर्क मे आने के पूर्व था, हट जाने का कभी अफसोस या पश्चात्ताप नहीं हुआ। पर हृदय के किसी कोने में एक अभिलाषा छिपी रह गई थी, क्योकि उस जीवन से हटते समय उसकी ही पूर्ति की मैं तैयारी कर रहा था। मैंने ऊपर कहा है कि १९१७ के जनवरी मास में मुझे एम एल की डिग्री मिली। उसके वाद मैं डी एल की डिग्री के लिए तैयारी करने लगा और सोच ही रहा था कि उसके लिए एक निवन्ध लिखूँ कि तभी मैं राजनीति के भँवर में पड गया।

---

१ भाषण : कलकत्ता विश्वविद्यालय का समावर्तन समारोह, २६ दिसम्बर, १९५२।

कभी-कभी उस अभिलाषा का जाग्रत होना अस्वाभाविक बात नहीं थी। आज वह भी पूरी हो गई और जिसे मैं अपने परिश्रम और अध्यवसाय से प्राप्त करना चाहता था वह आज अनायास ही इस यूनिवर्सिटी की कृपा से, जिसने मुझे पाला-पोसा था, मुझे प्राप्त हो गई। इसके लिए मैं आप सबका हृदय से अनुग्रह मानता हूँ।

इन पिछले ३६ वर्षों में भारतवर्ष में कितना बड़ा और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है उसे आप सभी जानते हैं। देश, जिसकी स्वाधीनता का स्वप्न केवल स्वप्न-रूप में हम देखा करते थे, आज स्वतन्त्र है और अपने भाग्य को बनाने और बिगाड़ने के पूरे अधिकार और पूरी शक्ति ईश्वर की दया से देशवासियों के हाथों में आ गई है। पर उसके साथ-साथ दुखद घटनाएँ भी घटी हैं जिनके फल और परिणामस्वरूप हम आज भी दुखी और चिन्तित हैं। तो भी संसार के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना हो गई है कि भारतवर्ष ने महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में और असंख्य नर-नारियों के त्याग से स्वराज्य पा लिया है। आज की प्रचलित शिक्षा-पद्धति से मुझे संतोष नहीं है। मैं अपने असंतोष के कारण कई स्थानों पर कह चुका हूँ। अतः यहाँ उनका दुहराना अनावश्यक है।

इधर प्रायः ४० वर्षों में उस शिक्षा-पद्धति का, जिसका प्रारम्भ अंगरेजी शासन-काल में हुआ था, विस्तार बहुत बढ़ गया है। उसका जितना प्रचार और प्रसार आरम्भ से लेकर प्रायः १०० वर्षों में हो सका था उसका दुगुना प्रसार पिछले ४० वर्षों के अन्दर हो गया है जो नीचे लिखे आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगा—

संस्था	१९११-१२		१९४८-४९		१९५१-५२
	संस्थाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या	संस्थाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या	सफल परीक्षार्थियों की संख्या
यूनिवर्सिटी और कालेज	१८६	३१९७४	५३७	२१४६७७ (२३०५८ महिलायें)	६३४९५
प्राइमरी स्कूल ...	१२३५७८	४९८८१४२	१५४९१२	१२९९४६२१	
सेकेण्डरी स्कूल ..	६३१०	९२४३७०	१४३४२	२९४९६८६	
शिल्पिक और अन्य विद्यालय	६११८		१४५६८		
सरकार से स्वीकृत न किये हुए शिक्षालय	३९८९३		८५९५		

१९११-१२ में यूनिवर्सिटियो और कालेजो की सख्या समस्त भारत मे, जिसमें आजकल के पाकिस्तान सम्मिलित क्षेत्र और बर्मा भी सम्मिलित थे, १८६ थी और १९४८-४९ में बर्मा और पाकिस्तान को छोड़कर भी यह सख्या भारत मे ५३७ थी। इसी तरह प्राइमरी स्कूलो की संख्या १९११-१२ में १,२३,५७८ थी और १९४८-४९ मे १,५४,९१२ थी। सेकेण्डरी स्कूलो की सख्या सन् १९११-१२ में ६,३७० थी और १९४८-४९ में १४,३४२ थी। शिल्पिक और दूसरे प्रकार के विद्यालय १९११-१२ मे ६,१९८ थे और १९४८-४९ में १४,५६८; स्वीकृत न किये हुए शिक्षालयों की संख्या १९११-१२ में ३९,८९३ थी और १९४८-४९ में ८,५९५। इसी तरह विद्यार्थियो की सख्या भी १९११ १२ में इन्टरमीजियेट, बी. ए. और बी. एस-सी. कक्षाओ में ३१,९७४ थी और १९४८-४९ में इन कक्षाओ तथा एम ए, एम. एस-सी. और रिसर्च कक्षाओ को सम्मिलित करके २,१४,६७७ जिनमे २३,०५८ महिलायें थी। १९५१-५२ मे भारत की २८ यूनिवर्सिटियो से बी. ए, बी. एस-सी., एम ए., एम एस-सी और अन्य डिग्रियो की परीक्षाओ मे कुल मिलाकर ६३,४९५ परीक्षार्थी सफल होकर निकले।

आप देख सकते है कि आज स्कूलो, कालेजो और यूनिवर्सिटियो में शिक्षा पाये हुए युवको और युवतियो की सख्या कितनी बढ गई है और प्रति वर्ष वह कितनी बढती जा रही है। यह एक संतोष का विषय है, पर साथ ही यह चिन्ता का कारण भी है। यदि हमारी शिक्षा का ढग ऐसा होता कि जो उस ढंग पर शिक्षा पाते वह कुछ विषयो के ज्ञान के साथ-साथ चरित्र में भी उन्नत होते और ऐसी योग्यता से भी सम्पन्न होते कि अपने हाथो और पैरों पर तथा अपनी देह और मस्तिष्क पर भरोसा करके जीवन-निर्वाह का साधन भी प्राप्त कर लेते तो उससे बढकर देश और समाज के लिए दूसरी कोई अच्छी बात नही होती। पर यह खेद का विषय है और उस पद्धति में मौलिक त्रुटि का परिचायक है कि शिक्षित वर्ग के अधिकाश लोग केवल दफ्तरो में काम करने की थोडी-बहुत योग्यता ही प्राप्त करते है और वह भी ऊँची कोटि की योग्यता नहीं। अधिकाश में लोग उसके योग्य भी नहीं निकलते और दूसरे किसी स्वावलम्बी जीवन के योग्य तो होते ही नहीं। इसलिए उस विस्तार और प्रचार का एक फल यह देखने में आ रहा है कि दिन-प्रति-दिन ऐसे लोगो की सख्या बढती ही जा रही है, जो छोटी-मोटी दफ्तरो की नौकरियो की खोज मे रहते है और उनको नौकरियां नहीं मिलतीं। जो काम उनके अनपढ पिता-पितामह कर सकते थे और करके अपना निर्वाह करते थे उस काम के भी वह अयोग्य हो जाते है। इस तरह से यह एक विचारणीय प्रश्न हो गया है कि इस प्रकार के स्कूलो, कालेजो और यूनिवर्सिटियो की वृद्धि कहां तक देश के लिए लाभदायक है। जब तक इस पद्धति में मौलिक परिवर्तन नहीं किया

जायगा, ये संस्थाएँ केवल ऐसे लोगो की संख्या बढ़ाने में ही सफल रहेगी जो वास्तव में अयोग्य होगे और उसके साथ ही अपने जीवन, समाज और सरकार से असंतुष्ट भी रहेगे।

इस शिक्षा-पद्धति द्वारा कुछ विषयो का या कम-से-कम एक विषय का भी अच्छा और काम-काजी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो जाता तो हमको कुछ संतोष होता, पर इधर चारो ओर से यह आवाज सुनने में आ रही है और वह ऐसे लोगों की आवाज है जो इस विषय को जानते है या इसके सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार रखत हैं कि पहले जो शिक्षा और ज्ञान का स्तर था वह बहुत गिर गया है और नीचे उतरता जा रहा है। यदि सच पूछा जाय तो यह एक प्रकार से स्वाभाविक भी था। इतनी तेजी के साथ और इतने विस्तार में शिक्षा-संस्थाएँ फैल रही है कि यह आशा करना असम्भव है कि उनमें गहराई भी उतनी ही होगी। इसलिए यद्यपि शिक्षा पर खर्च बहुत बढ़ गया है और शिक्षा के साधन भी जैसे पुस्तकालय, प्रयोगशाला, यन्त्र आदि काफी बढ गये है तो भी जिस मात्रा में विद्यार्थियो की संख्या बढी है उस मात्रा में उनकी वृद्धि नहीं हो पाई है। योग्य अनुभवी शिक्षक मिलना कभी भी आसान नहीं है और जब बहुत बड़ी संख्या में उनकी माँग होती है तो स्वाभाविक है कि स्तर कुछ कम हो जाता है। इसलिए जहाँ हम शिक्षा का विस्तार चाहते है, हम उसकी गहराई भी चाहते है। हो सकता है कि यह स्थिति तात्कालिक हो और थोड़े दिनो में सुधर जाय। किन्तु मेरा अपना विचार है कि जब तक शिक्षा के विषय और शिक्षाक्रम मे मौलिक परिवर्तन नहीं किया जायगा और उसका दृष्टिकोण ही न बदल दिया जायगा तब तक वह गहराई और कार्य-कुशलता उसमें नहीं आ सकती जो हमें चाहिए। उसका एक विशेष कारण यह है कि चाहे कोई भी काम हो उसका कुछ भी सम्बन्ध यूनिवर्सिटी की उपाधि के साथ अथवा वहाँ दी जाने वाली शिक्षा के साथ न हो तो भी उम्मीदवार से यह आशा रखी जाती है कि वह किसी-न-किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त किये हुए होगा और जहाँ किसी चीज के ज्ञान से अधिक उस विषय में कार्य-कुशलता आवश्यक है वहाँ भी डिग्रियो की खोज होती रहती है। जब तक अभ्यास, व्यावहारिकता और क्रियात्मक अनुभव को यथोचित स्थान नहीं मिलेगा तब तक यह त्रुटि दूर नहीं हो सकती। आज हजारो की संख्या में जो युवक-युवतियाँ स्कूलो, कालेजो और यूनिवर्सिटियो को दौडी जाती है उसका कारण यही है कि उनकी समझ में किसी रोजगार के लिए, किसी प्रकार की जीवन-वृत्ति प्राप्त करने के लिए, उन संस्थाओ को छोडकर और कोई दूसरा रास्ता नहीं है और इसलिए जो संस्थाएँ उच्च प्रकार की शिक्षा और मौलिक चिन्ता के केन्द्र होनी चाहिएँ वे भी छोटी-मोटी नौकरियो के लिए कारखाने बन जाती है। मै चाहता हूँ कि हमारे शिक्षाशास्त्री

शिक्षा की उन्नति के सम्बन्ध में और गहराई से विचार करें और जो परिवर्तन आवश्यक जान पड़े, उसे शिक्षाक्रम में दाखिल करें।

आज के शिक्षाक्रम में चरित्र-गठन का कोई स्थान नहीं है और न उसको कोई महत्त्व दिया जाता है। हमारी संस्कृति में गुरू और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही सुन्दर और मीठा हुआ करता था। इसका कारण यही था कि दोनो का एक दूसरे पर विश्वास हुआ करता था। गुरू शिष्य को पुत्रवत् मानते थे और उस पर स्नेह रखते थे। शिष्य गुरू को पिता-तुल्य पूज्य और विश्वसनीय समझता था। गुरू का शिष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा करता था और गुरू-शिष्य के बीच केवल व्यापारिक सम्बन्ध, जिसमें पैसे के बदले कुछ पुस्तकें पढ़ा देने मात्र का एक सम्पर्क होता है, न रहकर आध्यात्मिक सम्बन्ध हो जाता था जो बहुत घनिष्ठ हुए बिना नहीं रह सकता था। आज आये दिन समाचारपत्रो में पढने को मिलता है कि कहीं विद्यार्थियो ने शिक्षको के विरुद्ध हड़ताल कर दी तो कहीं शिक्षको में ही दलबन्दियां हो गई और विद्यार्थी भी कुछ एक दल में और कुछ दूसरे दल में शरीक हो गये और एक या दूसरे का समर्थन करने लगे। हाल में एक भयकर दुर्घटना भी सुनने में आई है कि शिक्षक के परीक्षा-सम्बन्धी कड़ाई करने से असन्तुष्ट होकर कुछ विद्यार्थियों ने शिक्षक के प्राण ही ले लिये। यदि दूसरे किसी ने भी नकी बुराई की या उनके किसी बुरे काम का विरोध किया तो उसके साथ भी वे लडने-झगडने से बाज नहीं आते। अगर कोई एक विद्यार्थी ऐसी कोई बात करे तो वह समझ में आ सकती है। पर जब किसी स्कूल या कालेज के विद्यार्थी एक गोल बनाकर ऐसे काम में लगते है तो यह चिन्ता का विषय हो जाता है। जहां तक मै देख और समझ सकता हूं इसका मौलिक कारण चरित्र-गठन पर ध्यान न देना और छात्रगण पर शिक्षकवर्ग के नैतिक प्रभाव का न होना ही है। मेरा यह कथन किसी प्रदेश-विशेष के लिए नहीं है। साधारणतया यह समस्या सारे देश में वर्तमान है।

यद्यपि हमारे शिक्षालयों में विद्यार्थियों के चरित्र-गठन पर ध्यान नही दिया जाता था तो भी एक दूसरी शक्ति और सस्था थी जो इस त्रुटि को कुछ हद तक दूर करती थी। हमारा कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन कुछ ऐसा था कि उसका असर बचपन से ही हम पर पड़ता था। घर-घर मे धार्मिक कृत्य किसी-न-किसी रूप में बराबर हुआ करते थे और रामायण और महाभारत की कथा होती थी। कथा, पुराण, प्रवचन, कुछ-न-कुछ दूर के गांवो में भी सुनने को मिला करते थे और जो त्यौहार और धार्मिक उत्सव होते थे वे भी किसी-न-किसी रूप में देखने को मिला करते थे। आज कौटुम्बिक जीवन वर्तमान परिस्थिति के कारण विशृंखल होता जाता है और बहुत अंश में हो भी चुका है। सामाजिक रोकथाम जो हमें बुराइयो से बचाया करती थी

भी अब ढीली पड़ गई है। इस तरह के उत्सव और मेले जो मनबहलाव के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हुआ करते थे आजकल के लोगो के मनोनुकूल नही होते है और टूटते जा रहे हैं। इसलिए उनका जो प्रभाव बच्चो और सयानो पर पडा करता था वह प्रतिदिन कम होता जा रहा है। अत. यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे समय में जब मनुष्य के जीवन पर ज्यादा संस्कार पडता है तो विभिन्न प्रकार की विचारधाराओ में पडकर आज के युवक और युवतियाँ बिना पतवार की नाव की तरह टकराते हुए धाराओ के शिकार बन जाते है। यदि नैतिक जीवन पर शिक्षा आधृत न हो तो महा विपत्ति से राष्ट्र को न बचाया जा सकेगा। इसलिए समस्त शिक्षा-व्यवस्था का जड़ से नया सस्कार करना आवश्यक है। केवल शिक्षको और जातीय नेताओ के भाषणो से अच्छे युवक और युवती तैयार नहीं हो सकेंगे। उनका अपना चरित्र और व्यवहार हर तरह से ऐसा होना चाहिए कि उनके काम और कथन में कोई अन्तर न हो। देश का सुन्दर भविष्य तभी बनेगा जब यह आदर्श सामने रहेगा।

आज पश्चिमीय विचारो का जितना प्रभाव पड़ रहा है उतना शायद कभी भी इस देश पर नहीं पड़ा। इसका एक कारण यह है कि आज दुनिया वैज्ञानिक प्रगति के कारण बहुत सिकुड़ती जा रही है। यातायात के इतने द्रुतिमान साधन आज मनुष्य के हाथ में आ गये है कि दुनिया के किसी भी भूभाग में अगर कोई घटना होती है तो उसकी सूचना घटना घटते ही हर स्थान पर पहुँच जाती है। कही-कहीं तो पहले प्रबन्ध रहने से अथवा साथ-साथ घटना-क्रम के वर्णन किये जाने से घटना होते समय ही उसे दूरस्थ देशो से भी आदमी देख और सुन सकते है। अपने पलँग पर सोये-सोये अमेरिका में होते हुए भाषण और गानो को हम सुन सकते है। आस्ट्रेलिया में होते हुए क्रिकेट-मैच का आँखो-देखा वर्णन हम सुनते जाते है। यदि इतना ही रहता तो भी किसी तरह से इतनी बुराई नही होती। हम दूरस्थ देश के चोरो और डाकुओ की क्रिया भी देखते है और यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार उनकी नकल करने का सुयोग हमें मिलता है। आज अन्यान्य देशो के रस्म-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा को बिना वहाँ गये ही हम केवल पुस्तको में पढ़कर ही नही अपितु चलते-फिरते और बोलते चित्रो द्वारा देख सकते है। इन सबका असर हमारे युवक-युवतियो और अबज्ञ लोगो पर पड़े बिना नहीं रह सकता। ससार की दूसरी सबसे बड़ी समस्या विज्ञान के कारण ही उपस्थित हो रही है। आज नैसर्गिक शक्तियो पर मनुष्य ने बहुत हद तक आधिपत्य प्राप्त कर लिया है और अपनी शक्ति इतनी बढ़ाली है कि आज से ५० वर्ष पूर्व तक उनका अनुमान और स्वप्न भी नहीं किया गया होगा। भाप, बिजली, आग और अणुशक्ति ने मनुष्य के हाथ में ऐसे साधन दे दिये है कि एक ओर तो यदि वह चाहे तो इस दुनिया को यहाँ के सभी रहने वालो के लिए स्वर्ग बना दे और दूसरी ओर इसे श्मशान

बना दे। इन्हीं शक्तियो पर आधिपत्य पाकर आज सारी दुनिया में इस बात की होड चल रही है कि इनका सबसे अधिक घातक उपयोग कैसे किया जा सकता है और कौन कर सकता है। इन वैज्ञानिक खोजो के फलस्वरूप मनुष्य को अपने जीवन के लिए शारीरिक श्रम से बचने के बहुत से साधन और उपाय भी मिल गये है और बहुत प्रकार के रोगो से बचने के लिए जो असाध्य माने जाते थे उनका उपचार और औषधियां भी हाथो में आ गई है और आती जा रही है। आसाइश, आराम और विलास की सामग्री, चाहे वह जरूरी हो अथवा ग़ैर-ज़रूरी, तैयार करने की सहज रीति जानी जा चुकी है। जिस काम को मनुष्य बहुत ही परिश्रम से कर पाता था उसे आज वह बैठे हुए आराम से करा सकता है और बहुतेरी कष्टसाध्य क्रियाओ को किये बिना ही आज उनसे जो लाभ पहुँच सकता है उसे हम पा सकते है। आज मानव-समाज के पास अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए और सभी शारीरिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए साधन मौजूद है और किसी को उन आवश्यक वस्तुओं के लिए किसी के साथ लड़ने-झगड़ने की ज़रूरत नही है। उनका इतना प्रचुर उत्पादन होता है और उनका उत्पादन और विभाजन इतना बढाया जा सकता है कि यदि हम यह सीख लें कि मानव-मात्र एक कुटुम्ब अथवा परिवार के लोग है और जैसे हमारे देश में किसी परिवार अथवा कुटुम्ब के लोग अपनी सब चीज़ों को बिना किसी अन्य सोच-विचार के आपस में बांटकर सुखी रह सकते है उसी तरह सारा मानव-समाज सुखी रह सकता है तो किसी चीज़ की कमी महसूस नहीं होगी। तो भी आज उसकी सारी शक्ति आपस में फैले हुए झगडो को बढ़ाने मे या सुलझाने में नही लग रही है। विज्ञान मनुष्य के लिए दैवी वरदान न बनकर आसुरी अभिशाप बन रहा है। श्रेष्ठतम विद्वानो और वैज्ञानिको की मानसिक शक्ति और तपस्या भीषण-से-भीषण घातक शस्त्रो और यन्त्रो के आविष्कार में लग रही है और कोई भी आज चैन की नींद से नही सो सकता है। मनुष्य ने दैविक शक्ति तो पा ली है पर उसका सबके उपकार और कल्याण के लिए उपयोग करना नहीं सीखा है। हमारा दिमाग और मस्तिष्क आसमान पर चढ गया है पर हृदय छोटा और सकुचित रह गया है। मै मानता हूँ कि मानव-शरीर को पोषक रक्त पहुँचाने की शक्ति हृदय में है मस्तिष्क में नहीं और मस्तिष्क भी अपने भरण-पोषण के लिए हृदय पर ही निर्भर रहता है। उस हृदय की उपेक्षा करके केवल मस्तिष्क द्वारा हम न तो अपने को और न दूसरो को सुखी कर सकते है। उसको कैसे बलवान् और महान् बनाया जाय, यही प्रश्न आज मानव-जाति के सामने है। हम मस्तिष्क की उन्नति की निन्दा नही करते और न उसका अवरोध करना चाहते है। विज्ञान को अबाध रीति से अपना काम करना चाहिए और उसे यह करने देना ही श्रेयस्कर है पर उसके साथ कुछ और भी चाहिए, जो हृदय को बल पहुँचा सके।

हमारे उपनिषदो में इन विषयों पर गहराई से केवल विचार-विमर्श ही नहीं किया गया है बल्कि इनका अनुभव और साक्षात् भी किया गया है। कही-कहीं तो उनकी भाषा आज हम ठीक समझ भी नहीं सकते, क्योंकि हम केवल बुद्धि द्वारा ही उनको समझने का प्रयत्न करते है और जो अनुभव-सिद्ध स्पष्ट बात है उसे हम अपनी बुद्धि की चारदीवारी के अन्दर उसके दरवाजे छोटे होने के कारण लाने में असमर्थ होकर उनकी सत्यता और प्रामाणिकता पर ही संदेह करने लगते है। मानव-समाज आज अविद्या को पार करके घोर अंधकार के बाहर चले जाने के प्रयत्न मे तो बहुत कुछ सफल हुआ है, पर विद्या में रमे रहने अथवा रत रहने के कारण वह उससे भी घोर अंधकार में चला गया है। आत्मतत्त्व अथवा आत्मविद्या को जो अविद्या और विद्या दोनो से भिन्न है प्राप्त करने का मानव-समाज आज प्रयत्न नहीं कर रहा है। उसके प्राप्त होते ही हृदय शुद्ध हो जायगा और मनुष्य मनुष्य से वैमनस्य न रखकर ऐक्य का अनुभव करने लगेगा। मनुष्य के साथ ही क्यो, वह दृष्टि में आने वाली सभी वस्तुओ के साथ आत्मत्व प्राप्त कर लेगा और सारे झगड़े समाप्त हो जायँगे। तात्विक दृष्टि से यह केवल संभव ही नहीं है, अपितु हमारा अनिवार्य कर्तव्य भी है। यही भारत की अमर वाणी है और हमें विश्वास है कि एक दिन यह भारत में फैल जायगी। हमारे समाज और मानवमात्र की कमज़ोरी हमें इस दुर्गम पथ पर चलने नहीं देती और हम इधर-उधर भटकते फिरते है। हमे समझ लेना चाहिए कि जब तक इस आत्मतत्त्व का ओर दृष्टि नहीं जायगी और इसकी प्राप्ति के लिए हम प्रयत्नशील नहीं होगे तब तक समाज का विशृंखलता और दुनिया की फैली हुई अराजकता दूर नहीं की जा सकेगी। इस देश में हम सुनते है, कि जनसाधारण और शिक्षित लोगो का चरित्र आज जितना उन्नत और उदात्त होना चाहिए उतना नहीं है। इसका कारण परा विद्या के प्रति हमारी उपेक्षा और तज्जन्य शिक्षा-संस्थाओ में उसमें शिक्षा और अभ्यास के साधनों का अभाव है। मैं इसीलिए चाहता हूँ कि हमारे विश्वविद्यालय इस अभाव को दूर करें, क्योकि इसकी आवश्यकता केवल भारत के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए है। इसी का नाम महात्मा गान्धी ने सत्य और अहिसा दिया है। इसकी जरूरत सभी समझ रहे है पर इसका ह्रास भी सभी चुपचाप बैठे देख रहे हैं। जब तक हम अपने छात्रो के चरित्र-गठन पर उतना ध्यान नहीं देंगे जितना उनके बुद्धि-विकास पर आज हम दे रहे है, तब तक वह अविद्या से कुछ हद तक निकलकर और विद्या पाकर भी घोरतम अंधकार में पड़ते जायँगे। भारत की संसार को सबसे बड़ी देन यही आत्म-विद्या हो सकती है और उसे भारत तभी दे सकता है जब वह उसे स्वयं प्राप्त कर लेगा।

यह यूनिवर्सिटी आधुनिक भारत की यूनिवर्सिटियो में सबसे प्राचीन है।

इसका कार्य-क्षेत्र भी बहुत फैला हुआ था और यद्यपि आज कई नयी यूनिवर्सिटियो की स्थापना से वह क्षेत्र बहुत कम हो गया है तो भी मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष भर में जितने ग्रेजुएट (स्नातक) इस यूनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त करके निकले होगे उतने शायद और किसी भी दूसरी यूनिवर्सिटी से नहीं। इसने यथेष्ट ख्याति भी देश और विदेशों में प्राप्त की है, देश के सभी प्रकार के प्रगतिशील कामों में बड़ा भाग लिया है और आज भी इस यूनिवर्सिटी का स्थान बहुत ही ऊँचा और सम्मानित है। बंगाल भारत के अन्दर साधना का एक अपूर्व क्षेत्र है। नूतन भारत की जाग्रति में और उसके पुनर्जीवन में बंगाल का बड़ा अंशदान है। इसलिए मैंने आज शिक्षा सम्बन्धी कुछ मौलिक प्रश्नों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की धृष्टता की है। इधर शिक्षा का प्रचार और प्रसार बहुत ही तेजी से बढ़ता जा रहा है, पर जो पद्धति आज आ रही है उसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। सलिए यह विचारणीय है कि जब इस प्रसार से असंतुष्ट लोगो की बहुसख्यक श्रेणी तैयार की जा रही है और जीवन के प्रश्न हल करने का कोई रास्ता इस शिक्षा द्वारा हमको नहीं मिल रहा है तो यह प्रसार कहाँ तक वांछनीय है ? विशेष करके जब हम यह देखते है कि इस प्रसार का एक फल यह हुआ है कि ज्ञान की गहराई में भी न्यूनता आती जा रही है और जातीय चरित्र-गठन में कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सारी पद्धति पर मौलिक रीति से विचार किया जाय। यह केवल बंगाल का ही प्रश्न नहीं है, भारत भर का प्रश्न है। इसका हल करने के लिए मैं सबको आह्वान करता हूँ।

द्वितीय खण्ड

प्राचीन शिक्षा-पद्धति

१

राष्ट्रीय शिक्षा

२

नारी-शिक्षा का आदर्श

३

शिक्षिता नारी का दायित्व

४

गुरुकुल और राष्ट्रीय शिक्षा

१

राष्ट्रीय शिक्षा[1]

मनुष्य के लिए सबसे कठिन और दुखदायी गुलामी उसके मस्तिष्क और विचारो की गुलामी है। संसार का इतिहास बताता है कि जब एक जाति ने किसी दूसरी जाति पर आक्रमण द्वारा अथवा किसी अन्य प्रकार से अधिकार किया तो उस अधिकार को स्थायी और सत्ता को कायम रखने के लिए विजेता जाति ने विजित जाति के मनुष्यो के रहन-सहन, धर्म और साहित्य को अपने-सा बना लेने की कोशिश की है, और जहाँ तक वह इस प्रयत्न में सफलता पा सकी है वहाँ तक उसका राज्य और शासन स्थायी हुआ है। जब से विजित जाति को अपने देश, जाति, धर्म, भाषा, भाव, रहन-सहन, साहित्य इत्यादि का ज्ञान हुआ है, तब से उसे पराधीनता की जजीरो मे जकडकर बन्द रखना कठिन हो गया है। इसी सर्वव्यापी ऐतिहासिक नियम का एक प्रमाण भारतवर्ष में अगरेजी शासन की शिक्षा-नीति से भी मिलता है। पाठक जानते है कि प्राय आज से १०० वर्ष पहले जब अगरेजी राज्य की नींव भारतवर्ष में उतनी दृढ नहीं थी तब इस बात की बहस अगरेजी शासको में हुई थी कि भारतवर्ष में अगरेजी द्वारा अंगरेजी भाव और अगरेजी सभ्यता का प्रचार किया जाय अथवा भारतवर्ष की विद्या और भाषा की उन्नति का प्रबन्ध शिक्षा-विभाग द्वारा किया जाय। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त अंगरेजी की जीत हुई। अगरेजी शिक्षा की नींव इसी प्रकार पडी। इसका फल यह हुआ कि ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, अगरेजी भाव और भाषा का प्रचार भारतवर्ष में बढता गया और जो लोग पहले सस्कृत तथा अरबी-फारसी द्वारा ही सब काम चलाते थे, वे अंगरेजी पढकर एक प्रकार के नशे में आ गये। सभी देशी चीजें उन्हे तुच्छ और छोटी दीखने लगीं और पश्चिम की तुच्छातितुच्छ वस्तु भी उन्हे बहुत ही उच्च और पवित्र जँचने लगी। पर इस बात का श्रेय अंगरेजो को अवश्य है कि उन्होने संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो को स्वयं पढ़ना आरम्भ किया और बहुतेरो का तो इसी प्रकार उद्धार किया। यदि वह ऐसा न करते तो वह लुप्त हो गये होते। जब उन्होंने भारतीय सभ्यता के महत्त्व को देखा और उसकी प्रशसा अपने ग्रन्थो में करनी आरम्भ की तो हिन्दुस्तानियो की आँखें फिर खुलने लगीं कि शायद उनमें भी कुछ जानने योग्य बातें है।

---

१. प्रकाशित लेख : 'देश', ३१ जुलाई, सन् १९२४।

अंगरेजी शिक्षा द्वारा ही सरकारी तथा अन्य नौकरियां मिल सकती है। राज-भाषा होने के कारण अंगरेजी को वडी सुविधा है और अंगरेजी साम्राज्य के मसारव्यापी होने के कारण उसकी भाषा भी सर्वव्यापी हो रही है। ऐसी ही अवस्था में कुछ विचारशील तथा देश-हितैषी सज्जनो का यह विचार हुआ कि यदि हम भारतवर्ष को राजनीतिक बन्धनो से छुड़ाना चाहते है, तो उसके लिए यह भी परम आवश्यक है कि उसके मस्तिष्क को पराधीनता के बन्धन से मुक्त किया जाय। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयत्न इसी नवजाग्रत भाव के चिह्न और प्रमाण है। इसका उद्देश्य है भारतवासियों को अपने देश और जाति का गौरव वताना और उन्हे उस गौरव का योग्य अधिकारी अथवा उत्तराधिकारी बनाना।

राष्ट्रीय शिक्षा के कई रूप हैं। यह समझना भूल है कि असहयोग आन्दोलन के बाद से ही राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार हुआ है। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल स्थापित करके राष्ट्रीय शिक्षा की नींव डाली थी। वह संस्था इसलिए स्थापित की गई थी कि भारतवर्ष उन पुराने दृश्यो को जिन्हे आज से १,००० वर्ष से अधिक पूर्व के हिन्दू अपनी आँखों के चारो ओर देखा करते थे फिर देखें। जहां तक मै समझता हूं उसका उद्देश्य प्राचीन रीति से ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कराकर हमारे बच्चो को तेजस्वी, बुद्धिमान्, चरित्रशील और विद्वान् बनाना था। उसमें कदाचित राजनीतिक भाव न हो, पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि उस गुरुकुल में शिक्षण-विधि से बच्चे सरकारी शिक्षा से बचे रहते है और इसका प्रभाव उनके दिल और दिमाग पर पडे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार सनातनधर्मियो के ब्रह्मचर्याश्रम भी इसी उद्देश्य से खोले गये थे। सारांश यह है कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से उनके धर्म पर आघात पहुंच रहा है तो उन्होने उसे सुरक्षित और संरक्षित रखने के विचार से अपनी रीति की शिक्षा देने का विचार किया है।

जब बंगाल-विच्छेद के कारण एक अद्भुत जाग्रति हो गई और वहां के निवासियो को इस बात की प्रतीति हो गई कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मानसिक स्वतन्त्रता आवश्यक है तो उन्होंने यह भी निश्चय किया कि मानसिक स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय शिक्षा अत्यावश्यक है। इसलिए वहाँ पर राष्ट्रीय शिक्षा की नींव पड़ी। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भी इस विषय में बहुत दिनो से विचार कर रही है और कितने ही ऐसे विद्यालय खोल रही है जिनमें राष्ट्रीय नीति से शिक्षा दी जाती है। असहयोग आन्दोलन के पहले जितने प्रयत्न हुए सभी कुछ-न-कुछ सफलता प्राप्त करते गये। बंगीय शिक्षा प्रयत्न का जन्म राजनीतिक आन्दोलन के कारण ही हुआ था, पर उसमें सभी विचारों के सज्जन, जो चाहे सरकारी विद्यालयों से सम्बन्ध रखते थे या नहीं, सम्मिलित थे। स्वर्गवासी सर गुरुदास बनर्जी, सर रास बिहारी घोष और सर तारक-

नाथ पालित उसके मुख्य सदस्य-अधिष्ठाताओं में से थे। उनके साथ-साथ श्री अरविन्द घोष महाशय जी उस कार्य को अपना ही समझते थे। इसी प्रकार श्रीमती बेसेन्ट के विद्यालयों में भी सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी लोगो की पूरी सहानुभूति और सहायता थी।

जब से असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ तब से राष्ट्रीय शिक्षा को एक नया जीवन मिल गया। असहयोग ने हमारे दृष्टिकोण को ही बदल दिया। इस आन्दोलन का रूप ध्वंसकारी है और विधायक ध्वंसकारी रूप में यह सरकारी स्कूलो को खाली कराकर उनका नाश करना चाहता है, पर अपने विधायक रूप में यह हमारे नवयुवको के हृदय में देशप्रेम तथा त्याग की ज्वाला प्रज्ज्वलित करना चाहता है। आरम्भ में इसका ध्वंसकारी रूप अधिक देखने में आता था। आज यह अपने सच्चे स्वरूप को दिखलाने की चेष्टा कर रहा है। जब इस भाव और आदर्श से भरे हुए विद्यार्थी तैयार होकर देश-सेवा का व्रत धारण करके निकलेंगे और अपने जीवन और त्याग से अनुकरणीय काम करने लगेंगे तो देश की हालत बहुत-कुछ बदल जायगी।

आश्चर्य की बात है कि इस वर्ष महाविद्यालय में छात्रो की सख्या बढती ही जा रही है और गत वर्ष समस्त विद्यालयो में जितने छात्र थे, इस वर्ष एक ही वर्ग में उतने है। ऐसा विश्वास होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व और विलक्षणता को जानकर, और यह समझकर कि इस शिक्षा का फल नौकरी नहीं है, जो छात्र आ रहे हैं वह किसी उच्च आदर्श को लेकर ही अग्रसर हो रहे है। यह हमारे प्रान्त के लिए सौभाग्य और गौरव की बात है। राजनीतिक विचारो में विभिन्नता हो सकती है और है भी। पर सच्चे त्याग पर सभी मुग्ध हो जाते है और नरम दल हो अथवा गरम दल हो, स्वराज्यवादी हो अथवा कोई अपरिवर्तनवादी हो, सभी चाहते है कि देश में ऐसे सच्चे सेवक तैयार हो जो देश-सेवा के व्रती होकर त्याग को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझते रहें। इन राष्ट्रीय विद्यालयो और इस राष्ट्रीय शिक्षा का मुख्य आदर्श यही है।

राष्ट्रीय शिक्षा में पठन-पाठन की रीति और है तथा शैली भी निराली है। छात्र और बहुतेरे शिक्षक एक साथ रहते है और एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होते हैं। शिक्षकों का सहवास-जनित प्रभाव छात्रो के हृदय पर पड़ता है और शिक्षक भी ऐसे ही है जिन्होने विद्योपार्जन के साथ-साथ देश-सेवा और उसके लिए त्याग का व्रत लिया है। हमारी नीति है कि हम अपने बच्चो को भारतीय रखें, न कि उन्हें विदेशी बना देवें। इसलिए हमारी उच्चकोटि की शिक्षा भी मातृभाषा द्वारा ही दी जाती है। जब मै पटना यूनिवर्सिटी की सिनेट का सदस्य था और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, तो मि० फाकेस ने मुझ से पूछा था

कि यदि आपको अधिकार दे दिया जाय, तो क्या आप इस प्रस्ताव को कार्य में परिणत कर सकते है। मैंने उत्तर दिया था कि मेरे दिल में कुछ भी शक नहीं है, मै कल ही उसके अनुसार काम करने लगूंगा। यह प्रस्ताव आज से चार साल पहले स्वीकृत हुआ था और फिर सुना है कि वह इस कारण से हटा दिया गया है कि वह व्यावहारिक रूप से काम में नहीं लाया जा सकता है। राष्ट्रीय विद्यालय इसी दलील का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए चेष्टा कर रहा है। वह प्रस्ताव केवल मेट्रिक्युलेशन के लिए ही हिन्दी को माध्यम बनाना चाहता है। महाविद्यालय में उच्च शिक्षा भी हिन्दी द्वारा ही दी जा रही है। हम समझते हैं कि केवल माध्यम बदल देने से ही जितना समय विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में लगता है, वह बहुत घटाया जा सकता है। अभी पुस्तकों की भी कमी है, शिक्षक भी पूरे उपयुक्त नहीं मिलते, पर इन अड़चनों के रहते हुए भी हम आशा करते है कि कुछ दिनो में ही इसका सन्तोषजनक फल देखने में आयेगा।

दूसरी बात यह है कि हम प्रत्येक विद्यार्थी को पुस्तक के ज्ञान के अतिरिक्त कुछ कारबारी शिल्प भी सिखलाने की चेष्टा करते है। यद्यपि शिल्प-विभाग का द्रव्याभाव के कारण अभी तक उतना सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है जितना होना चाहिए, तथापि हमारे छात्र कुछ-न-कुछ ऐसी विद्या भी सीखते है जिससे वह अपने जीवन का निर्वाह कर सकेंगे और उन्हे दूसरो की नौकरी का मुंह न देखना पड़ेगा।

२

नारी-शिक्षा का आदर्श[1]

इस महाविद्यालय का इस प्रान्त में अपना एक विशेष महत्त्व है और इसका इतिहास नारी-जाग्रति तथा उन्नति का इतिहास है। इसकी स्थापना उच्च आदर्शों को लेकर एवं नारी-जाग्रति तथा राष्ट्रीय उन्नति की पुनीत भावनाओ से प्रेरित होकर आज से बहुत साल पहले एक सच्चे समाज-सुधारक के द्वारा की गई थी जिनके दिल में मुख्यतः नारी-जाति के प्रति विशेष गौरव और महान् आदर था। आप सबको मालूम ही होगा कि हमारे देश में दो प्रकार की शिक्षा-सस्थाएँ विद्यमान हैं—एक तो वह जो अगरेजी शासकों के द्वारा अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए स्थापित की गई थीं और दूसरी वह जो स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रप्रेमियो के द्वारा राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत होकर अपने देश की सस्कृति एवं सभ्यता को पुनर्जीवित एव पुनर्स्थापित करने के उद्देश्य से स्थापित की गई थीं।

आपके कधो पर जीवन का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है और मुझे पूरा भरोसा है कि आप अपनी शिक्षा और अनुभव के बल और आधार पर उसे योग्यतापूर्वक सँभाल सकने में सफल हो सकेंगी। अब तक आपका विद्यार्थी-जीवन रहा, अब आगे आपका व्यावहारिक और क्रियात्मक जीवन रहेगा और आपको अपने जीवन के कार्य-क्षेत्र में अनेक समस्याओ का सामना करते हुए आगे बढना है। मुझे आशा है कि आपने यहाँ जो शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की उससे आप शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण कर, स्वतन्त्र देश की दायित्वपूर्ण नागरिकाओ की तरह उसे निबाह सकेंगी। यह सब आपके लिए तब संभव होगा जब आप यह अच्छी तरह समझ लेंगी कि आपको अपने जीवन में क्या-क्या करना है ?

प्राचीन काल में हमारे देश में स्त्रियो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उत्कृष्ट स्थान रहा है। प्राचीन भारत की स्त्रियों ने बड़ी निपुणता तथा चतुरता के साथ बुद्धि और त्याग के बल पर गृह एव अनेकानेक सामाजिक कार्यों में भाग लिया और वे समाज के सर्वांगीण विकास में सहायक रहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे गणित-शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गार्हस्थ्य-शास्त्र आदि सभी विषयों

---

१ भाषण कन्या महाविद्यालय, जालन्धर का समावर्तन समारोह, २९ सितम्बर, १९५२।

में पारंगत थीं। सीता, सावित्री, गार्गी, लीलावती आदि स्त्री-रत्नों के नाम लेते हुए आज भी हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा उठता है। हमारे यहाँ की स्त्री-जाति का चरित्र प्राचीन काल से उन्नत था और उसकी परम्परा उज्ज्वल थी। उनके चरित्र आज भी नारी-जाति के सम्मुख ज्वलन्त उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। नारी देवी है, धात्री है और उसमें वह सृजनात्मक शक्ति है जिससे मानव-समाज का निरन्तर विकास और कल्याण होता रहता है। वह अपनी सृजनात्मक शक्ति से घर के अन्दर और वाहर काम करती हुई समाज की सर्वांगीण उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकती है। इस तरह उसकी जितनी महान् शक्ति है उतना महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व भी उसके कन्धों पर है। इन वातों को ध्यान में रखते हुए मैं लडकियों की शिक्षा को अधिक महत्त्व देता हूँ। हम चाहे अपने सामने कितने ही महान् व उच्च आदर्शों को लेकर राज्य-व्यवस्था क्यो न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक एवं सामाजिक विचारधारा कितनी भी समान एव उदार क्यों न हो, जब तक हमारी अगली पीढी का शारीरिक एव मानसिक सौष्ठव व गठन शिशु-जीवन में ही—वाल्य-काल में ही—ठीक नहीं वनता तव तक हम अपने देश में चिरस्थायी सुख और शान्ति स्थापित करने में सफल नहीं हो सकते। इसलिए मेरा यह ख्याल है कि दफ्तर या कारखाने में काम करने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य स्त्रियो का घर में हो सकता है जिसे वह सुचारु रूप से चला सकती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्हे कूप-मण्डूक वनाया जाय या उन्हें घर की चहारदिवारियो में कैद करके रखा जाय। वह अपने गार्हस्थ्य-जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के अनेक कार्यों में भाग ले सकती है और उन्हे सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है और यह उन्हे करना भी चाहिए। इसके लिए वह स्वतन्त्र और समान हकदार है। साथ ही इस स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का अर्थ यही है कि वह अपना विकास करती हुई मानव-समाज की सर्वांगीण उन्नति में अपनी प्रत्येक शक्ति का उत्तमोत्तम उपयोग करें जिससे समस्त मानव-जाति का कल्याण हो और इसमें वह स्वयं भी सम्मिलित है।

भारतीय स्त्री-जाति की प्राचीन गौरव-गरिमा एवं उच्च परम्पराओं को ध्यान में रखकर न केवल आज की नारी को शिक्षित होना है, वल्कि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् पुरुषों के साथ सहगामिनी वनकर अपने आपको सव दिशाओं में आगे वढाना है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद अव राष्ट्र के नव-निर्माण के कार्य में उसे भी उचित रीति से भाग लेना चाहिए। यह सव तभी संभव हो सकता है जव हम वर्तमान शिक्षा-पद्धति की कमियो एवं दोषो को दूर कर उसको अपने अनुकूल एवं उपयोगी वना लें। इस सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ देश में प्रचलित हैं। आधुनिक सुधारवादियो या अपने को प्रगतिशील कहने वालो की यह धारणा है कि वालक-

बालिकाओ को एक साथ शिक्षा दी जाय और दोनो की शिक्षा-प्रणाली एक-सी हो। उनका यह भी ख्याल है कि स्त्रियों को न केवल शिक्षा-पद्धति में ही बल्कि और क्षेत्रों में भी पुरुषो के बराबर हक और अधिकार मिलने चाहिएँ। उन्हें सम्पूर्ण सामाजिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, समाज के समस्त व्यवसाय और व्यापारो में समान रूप से भाग लेना चाहिए और इन सबके अनुकूल ही शिक्षा-प्रणाली की रचना होनी चाहिए। दूसरी ओर कट्टरपथियो के विचार इनके विपरीत है। इस तरह स्त्री-शिक्षा और अन्य बातो के सम्बन्ध में हमारे देश मे वर्तमान समय में परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित है। इन दोनो में से कौनसी विचारधारा उपयुक्त हो सकती है और किस के द्वारा हमारी सस्कृति एव सभ्यता फल-फूल सकती है, इस पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तक मेरा अपना ख्याल है मै समझता हूँ कि हमारे लिए इन दोनो के बीच के मार्ग को अपनाना श्रेयस्कर होगा।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के आदर्श एव उद्देश्यों में जो कमियाँ या दोष पाये जाते है उनके अलावा वह बहुत खर्चीली भी साबित हो रही है। प्रतिवर्ष हम अपने शिक्षा-लयो के द्वारा हजारो विद्यार्थियो को तैयार करते है जिनमें से बहुतो के लिए नौकरियाँ न मिलने पर जीविका चलाना बहुत मुश्किल हो जाता है। इस तरह हम अपने शिक्षालयो के द्वारा जहाँ काफी संख्या में बेकार व्यक्तियों को तैयार होते देखते है वहाँ फैशनपरस्तो को भी तैयार होते देखते है। हमारे साधारण गृहस्थ-घरो के लड़के-लड़कियाँ जब प्रारम्भ में आधुनिक शिक्षालयो में प्रवेश पाती है तो वहाँ की फैशन-परस्ती का शिकार वह भी धीरे-धीरे हो जाती है और सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य साड़ियाँ एवं तरह-तरह की साज-शृगार की वस्तुओ की नकल करने लगती है। इससे वे अपने माँ-बाप या अभिभावको को पर्याप्त मात्रा में पैसा खर्च कराने की नौबत या परेशानी में डाल देती है। इतनी खर्चीली शिक्षा प्राप्त कर जब वह स्कूल या कालेज छोड़कर जाती है, तो उनको जीवन के भारस्वरूप होने का भय रहता है, क्योकि जीवन के कार्यक्षेत्र मे वह खर्चीली शिक्षा-पद्धति आमदनी के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। वह नौकरी की उम्मीद भी पूरी नहीं कर सकती और यह शिक्षा अन्त में उनके लिए निकम्मी मालूम पडती है। इसलिए हमें सचेत होकर यह सोचना है कि क्या वर्तमान शिक्षा-पद्धति ही हमारे लिए उपयुक्त है या इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है। हम केवल लकीर के फकीर बने रहे, यह हमारी बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि हम शिक्षा-प्रणाली में और तदनुसार पाठ्यक्रम में कौन कौनसे परिवर्तन या सशोधन करें जिनके द्वारा लड़के-लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन के कार्यक्षेत्र में सफल और स्वावलम्बी बन सकें जिससे उनको नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकना न पडे या दूसरो पर निर्भर न रहना

पड़े। इस सम्बन्ध में हमारी दृष्टि सहज ही उस शिक्षा की ओर जाती है जिसके द्वारा विद्यार्थी केवल शिक्षित ही नहीं होता है बल्कि शिक्षा समाप्त करने पर स्वावलम्बी बनकर कुछ कमाने का रास्ता भी निकाल सकता है। शिक्षा के साथ-साथ यदि परिश्रम व उसके महत्त्व और उपयोगिता की भी जानकारी कराई जाय, तो वह शिक्षा लाभदायी सिद्ध हो सकती है। इसी नयी पद्धति को महात्मा गान्धी जी ने नयी तालीम का नाम दिया था। इसके अनुसार किसी क्रियात्मक या रचनात्मक काम के द्वारा ही ज्ञान की वृद्धि और शरीर, मस्तिष्क तथा चरित्र तीनो की उन्नति करायी जा सकती है। हमारी शिक्षा-सस्थाएँ इस ओर ध्यान देकर स्वावलवन की मानसिक प्रवृत्ति का वातावरण शिक्षालयो में पैदा कर सकती हैं। इस तरह जहां बेकारी की समस्या का थोडा-बहुत हल हो जाता है, वहां हम अपने बच्चो की उन शक्तियो को भी जाग्रत कर देते हैं जो अन्ततः मनुष्य की तरक्की की एकमात्र साधन हैं।

स्त्री का कार्यकुशल होना अत्यन्त आवश्यक है। गार्हस्थ्य-जीवन के निर्वहण में उसका पुरुष के साथ पूरा-पूरा सहयोग होना चाहिए। स्त्रियो को घर चलाने आदि के काम में कुशल होना चाहिए और छोटे-छोटे काम-काज करने में भी सकोच नहीं करना चाहिए। पढ़-लिखकर सुशिक्षित होने के बाद घर-गृहस्थी के कार्यों से दूर भागना या मुंह मोड़ना स्त्रियो के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। स्त्रियो के कार्यकुशल एवं स्वावलम्बी बनने में ही उनकी गौरव-प्रतिष्ठा और उनकी मान-मर्यादा है। कुछ लोग स्वावलम्बी बनने का अर्थ बहुत संकुचित कर देते हैं और मानने लगते है कि शिक्षा द्वारा स्त्रियो को नौकरियो के योग्य बना देना उनको स्वावलम्बी बना देना है। स्वावलम्बी होने का यथार्थ रूप तो यह है कि स्वावलम्बी स्त्री या पुरुष को दूसरे पर निर्भर करने की कम-से-कम ज़रूरत पड़े। क्या घर का सारा काम-काज सँभाल लेना इसका एक लक्षण नहीं है ? क्या अपने बच्चे के पालन-पोषण यहां तक कि दूध के लिए भी धाय पर निर्भर रहना परावलम्बन की पराकाष्ठा नहीं है ? इसलिए सच्चा स्वावलम्बन वही है जिसमें वह दूसरों पर—चाहे वह मालकिनी बनकर, नौकर अथवा नौकरानी बनकर चाहे वह कितना ही उच्च पद क्यो न हो, मालिक पर निर्भर न हो— अथवा उसे कम-से-कम निर्भर रहना पड़े।

प्रकृति और ईश्वर ने मानव-जाति को क़ायम रखने का भार स्त्रियों पर रखा है और मनुष्य का सृजन पुरुष नहीं स्त्रियां ही कर सकती हे। इस गौरवपूर्ण और विशिष्ट दायित्व को स्त्रियों और समाज को समझ लेना चाहिए और चाहे जो भी शिक्षा-पद्धति हो उसमें इसकी गरिमा या अनिवार्यता को ध्यान में रखना चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि स्त्री और पुरुष दोनों सभी काम करें। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था नहीं की। इसलिए उन्हें अपने सबसे बड़े उत्तरदायित्व मानवमात्र के सृजन को सबसे पहले सँभालना

चाहिए। वह सृजन का काम संतानोत्पत्ति के साथ समाप्त नहीं होता। वह तो जब तक स्त्री जीती-जागती रहती है, मनुष्य को उन्नत बनाने में चलता ही रहता है। इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए विद्यालयों में लड़कियो को सुशिक्षित होकर अपने देश के सर्वांगीण विकास में उचित रीति से सहायक सिद्ध होना होगा।

यह महाविद्यालय इसी कर्तव्य-साधना, नारी-जाति की जाग्रति और सुधार के लिए तथा सामाजिक जीवन में सच्ची उन्नति एवं मानव-कल्याण के लिए अपना योग देने में संलग्न है। आप मानव-संस्कृति के विकास तथा नारी के उसमें उपयुक्त स्थान को ध्यान में रखते हुए ऐसा क्रियात्मक कार्यक्रम बनाये रखें जिससे सत्य, अहिंसा तथा शान्तिपूर्ण ढंग से भारतीय जन-जीवन को परिष्कृत व परिमार्जित करने में आपका यह महाविद्यालय स्नेह और सहयोग का आनन्द-मन्दिर समझा जाय।

३

शिक्षिता नारी का दायित्व[1]

किसी भी देश का आधा जन समूह यदि पीछे पड़ जाय, तो वह देश उन्नति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रो में स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं और अंगरेजी में उसे (Better half) अर्थात् अङ्ग का बेहतर आधा कहते हैं। सच है यदि मनुष्य के किसी छोटे अङ्ग में भी लकवा मार जाय तो वह बहुत अंशों में बेकार हो जाता है, पर जिसका आधा अङ्ग सारा-का-सारा लकवे का शिकार बन जाय तो वह बिलकुल ही बेकार हो जाता है। इसलिए यदि देश के हितचिन्तको का ध्यान स्त्रियो की शिक्षा की ओर गया, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है,—विशेषकर इस युग में जब चारो ओर देश में स्वतन्त्रता की आवाज उठ रही है और जो दबे हैं, उनको उठाने की; जो दलित हैं उनके उद्धार की; जो पीड़ित हैं उनकी सुश्रुषा की और जो पीछे पड़े हैं उनको आगे बढ़ाने की चेष्टा में सभी कुछ-न-कुछ करने पर आमादा हैं। प्रयाग-निवासियो ने इस महिला विद्यापीठ की स्थापना करके केवल प्रयाग अथवा युक्त-प्रान्त का ही नहीं, वरन् उत्तर भारत के बहुत बड़े हिस्से का उपकार किया है। आपने बहुत बड़ा काम अपने हाथो में ले लिया है और मेरी यही प्रार्थना है कि उसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इस संस्था को और भी जितनी सहायता आप दे सकते हैं, देवें, जिसमें यह तीर्थराज के योग्य एक और भी तीर्थ-स्थान हो जाय।

मुझे यह सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ कि आपके विद्यापीठ के प्रधान तथा उपप्रधान महाशय इस फिक्र में है कि सभी राष्ट्रीय विद्यालयो का एक संघ क़ायम हो जाय। इसका कुछ प्रचार भी हुआ है। मैं इस प्रयत्न को अच्छा समझता हूँ क्योंकि आज सारे देश में बहुतेरे राष्ट्रीय शिक्षालय बिखरे पड़े है और यदि उन सबको किसी एक सूत्र में बाँध दिया जाय तो उनकी शक्ति बढ़ जायगी और सबको एक-दूसरे से सहायता प्राप्त हो सकेगी। आप यदि इसमें सफल हुए तो यह बड़े महत्त्व और गौरव की बात होगी।

बहनो! आप में से जिनका सौभाग्य यहाँ शिक्षा प्राप्त करने अथवा यहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का हुआ है, बड़ी भारी जवाबदेही लेकर ससार में प्रविष्ट हो रही है अथवा जो पहले से ही संसार में प्रविष्ट है उन पर भी बड़ी जिम्मेदारी नये

---

१ भाषण: प्रयाग महिला विद्यापीठ का समावर्तन समारोह, सन् १९३५।

तौर से आ जाती है। आप जानती है कि हमारा स्त्री-समाज अभी बहुत बातों में पीछे पड़ा है। उसके लिए दोष उस समाज का नहीं है। उसकी जिम्मेदारी पुरुषों पर है। पर दोष चाहे जिसका हो उस समाज को आगे बढ़ाना हम सब का काम है। शिक्षा पाकर स्त्री यह न समझ बैठे कि उसका काम समाप्त हुआ। सच पूछिये तो उसका सार्वजनिक काम तभी आरम्भ होता है।

भारतवर्ष में काम की कमी नहीं है। कमी है काम करने वालो की। आप चाहे जिस ओर ध्यान देवें, वहां ही सेवा की जरूरत नजर आती है। स्त्रियां केवल शोभा के लिए अथवा विलास के लिए नहीं हैं। उनका हृदय ईश्वर ने ही कोमल बनाया है। दया की वह प्रतिमा है। साथ ही जहां अपने ऊपर कष्ट लेने की बात होती है वहां वह पत्थर और लोहे से भी अधिक सख्त है। हमारे समाज में पुरानी रीति के अनुसार उनका स्थान बहुत ऊंचा है। यदि पुरुष घर के बाहर का काम करने और देखने-भालने के लिए था तो स्त्री घर की मालकिन थी और उसके बिना घर का कोई छोटा या बड़ा काम नहीं हो सकता था। स्त्री और पुरुष दोनो एक दूसरे के अधूरेपन को पूरा करने के लिए बनाये गये है। जैसे स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना बच्चा नहीं हो सकता उसी प्रकार उनके एक दूसरे की सहायता के बिना बच्चो का पालन-पोषण नहीं हो सकता। ईश्वर ने ही दोनो के शरीर की गठन-शक्ति और रूपरेखा अलग-अलग बना दिये है। दोनो के हृदयो और मस्तिष्को में भी विभिन्न शक्तियाँ है। इसलिए हम इस बात का पता लगा लेवें कि इनमें से किसके योग्य कौनसा काम है और उसके सुपुर्द वही काम करें। अकसर देखा जाता है कि स्त्री भी पुरुष का काम कर सकती है। मै समझता हूँ कि यह अपवाद है। यदि स्त्रियो और पुरुषो में काम का विभेद न मानकर सभी को योग्य समझकर सभी कामो में लगा दिया जाय तो बड़ी गड़बड़ी मच सकती है। स्त्री और पुरुष तो अलग है। यदि सभी पुरुषो को उनकी योग्यता और शक्ति पर विचार किये बिना सब कामो में लगा दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मचेगी। समाज ने यदि स्त्रियो के लिए अलग जीवन-क्रम निश्चित किया है तो उचित ही किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियो का स्थान कुछ कम अथवा छोटा समझकर ऐसा किया गया है। ऐसा न किया जाय तो लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना है। हां, दोनों के बीच में ऊंच-नीच, बड़े-छोटे, कमजोर और जोरावर का भेदभाव नहीं होना चाहिए। ऐसा होने से ही उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक शक्तियो का पूरा विकास हो सकता है और उन विकसित शक्तियो से हम पूरा लाभ उठा सकते है।

जन-समाज को जिन्दा रखने का भार नारी पर है। वही उसकी वृद्धि करती है और वही उसे जिन्दा रख सकती है। उसके असीम कष्ट सहे बिना जन-समाज की

संख्या में एक की भी वृद्धि नहीं हो सकती ! शिक्षा का फल यह होना चाहिए कि हमारी भावी सन्तान अधिक स्वस्थ, अधिक जहीन और अधिक पुष्ट हो। इसके लिए नारी को अपना जीवन अधिक स्वस्थ, अधिक शुद्ध और अधिक संयमी बनाना होगा। सन्तान का पालन-पोषण भी उसका ही विशेष कर्तव्य है। उसके शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने का काम उसी का है। उसे भी वह संयम और विद्या से ही कर सकती है। उसको जानना चाहिए कि किस भोजन से किस प्रकार सफाई रहती है और किस प्रकार के खेल से बच्चा पुष्ट और स्वस्थ रह सकता है। उसके बाद जब वह कुछ बड़ा हो जाय तो बचपन से ही उसकी प्रथम शिक्षा का भी भार उस पर ही रहता है। माता प्रथम गुरु कही गई है। जो सद्भाव और जो सद्विचार दूध के साथ ही पिला दिये जाते हैं, वह कभी ढीले नहीं पड़ सकते। यही कारण है कि संसार के जितने महान् पुरुष होते आये हैं, उन पर उनकी माता की छाप बहुत अधिक पाई जाती है। यह सब बातें पुरानी हैं। सभी इन्हें जानते हैं। इन बातों को दुहराने की जरूरत इस कारण से पड़ती है कि कहीं-कहीं ऐसा देखने में आता है कि इस सर्वोच्च कर्तव्य की ओर से नारी का ध्यान अन्यत्र आकर्षित हो जाता है। कुछ विचार-प्रवाह भी ऐसे चल पड़े हैं कि बराबरी के युग में इस अत्यन्त पवित्र और महान् कार्य पर इतना जोर नहीं दिया जाता जितना देना चाहिए। स्त्री को ऐसा आप हर्गिज न समझें कि वह हीन अथवा बलहीन है। वही तो शक्ति है और वही वह काम करती है जो पुरुष कर ही नहीं सकते। संसार को क़ायम रखने का गौरव और जिम्मेदारी उसी की है। यह आवश्यक है कि वह इस जिम्मेदारी को समझकर अपने को इसके योग्य बनाये। इस योग्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं मन, वचन और कर्म सभी से शुद्ध रहे, संयम रखे और उनसे केवल पवित्र काम ले। यदि शरीर स्वस्थ न रहा तो स्वयं तो कष्ट उठाना ही पड़ेगा साथ-साथ भावी सन्तान भी हीन और कमजोर होगी। स्वस्थ होने के लिए भोजन पुष्टकर होना चाहिए—चाहे वह स्वादिष्ट हो अथवा न हो। हम अक्सर स्वाद को अधिक महत्त्व देकर स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते हैं और अपने तथा समाज के साथ भारी अन्याय करते हैं। इसलिए स्वाद पर अधिक ध्यान न देकर भोजन के दूसरे गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। केवल भोजन पर ही स्वास्थ्य निर्भर नहीं है, शरीर को व्यायाम की भी जरूरत पड़ती है। हमारे समाज में कुछ ऐसा बुरा रिवाज चल पड़ा है कि किसी प्रकार के धन्धे में हम अपमान समझते हैं। यदि धन्धा और व्यायाम दोनों का सम्मिश्रण हो जाय तो इससे बढ़कर शारीरिक और आर्थिक उन्नति का दूसरा रास्ता नहीं हो सकता। इसलिए नारी को विचार करके घरेलू धन्धों में से ऐसे विशेष काम खोज निकालने होंगे जो आर्थिक सहायता के साथ-साथ शरीर को भी पुष्ट बनाते हों।

स्त्री को यह भी जान लेना चाहिए कि भोजन और व्यायाम से ही पूरा स्वास्थ्य वह नहीं पा सकती। शरीर पर मन का बहुत बड़ा अधिकार होता है। शरीर जो कुछ करता है मन की प्रेरणा से ही करता है। इसलिए मन को स्वस्थ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। जब सुन्दर और पवित्र विचार बराबर सचरित होते रहेंगे और किसी प्रकार की गन्दगी नहीं आने पावेगी तभी मन और विचार बराबर शुद्ध और पवित्र रह सकेंगे और तभी शरीर अपवित्र कामो की ओर नहीं झुकेगा। इसको आप केवल पुस्तको में लिखी अथवा सभाओ में कहने योग्य ही सुन्दर बातो की लच्छी न समझ लीजिए। आप इसे अक्षरशः सत्य समझ लें कि शरीर से जितने काम होते है उनका उद्गम-स्थान मन और विचारशक्ति है और वहाँ पर भ्रष्टता आ गई तो वह बाहर निकले बिना नहीं रह सकती। वह किसी-न-किसी रूप में बाहर निकलेगी ही। इसीलिए ब्रह्मचर्य पर और पतिव्रत-धर्म पर इतना जोर दिया गया है। लोग अकसर कह बैठते है कि पुरुषो का यह जुलम है कि स्त्रियो के लिए इतने कडे नियम बनाये और अपने को स्वतन्त्र छोड दिया। मेरी समझ में यह बात पहले तो गलत है कि पुरुषो के लिए कडे नियम नहीं है। उनके लिए भी है। पर यदि मान भी लें कि नहीं है तो इसमें मै समझता हूँ कि पुरुष अपनी हीनता स्वीकार करता है न कि अपना बडप्पन घोषित करता है। इन कड़े नियमो का अर्थ ही यह है कि स्त्री की जिम्मेदारी बड़ी है—उसका काम महान् है और शक्ति बडी है। उनको संसार के लिए किसी प्रकार घटने न देना ही उन नियमो का लक्ष्य है। श्री रामचन्द्र से भी अधिक बलवती यदि सीता न होतीं और उनकी तपस्या और सयम यदि श्री रामचन्द्र से भी अधिक उत्कृष्ट न होता तो रामचन्द्र से भी अधिक बली पुत्र वह न जन सकतीं। रामचन्द्र ने यदि जहाँ-तहाँ कुछ कमजोरी भी दिखाई तो श्री जानकी का चरित्र बिलकुल बेदाग है। हमारी बहनें उसी सीता को आदर्श समझकर अपने को हमेशा पुरुषो से अधिक बलवती, अधिक चरित्रवान् और अधिक उपकारी बना सकती है। पुराणो में ऐसी बहुत कथाएँ है जहाँ देवताओ पर गाढ विपत्तियां आई है और जब कभी वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ पाये गये है तब उनकी रक्षा देवियो ने ही की है। यदि उनकी शक्ति देवताओ से अधिक न होती तो वह ऐसा न कर पातीं। इसका उदाहरण एक छोटे पैमाने पर हमने अपनी आंखो देख लिया है। जहाँ हमारे पैर उखड गये वहाँ अशिक्षित बलहीन समझी जाने वाली पर्दे में बन्द स्त्रियों ने ही काम सँभाला और देश की इज्जत बचा ली। मै चाहता हूँ कि नारी ऐसा विचार न करे कि उसे भी वही काम करने है जो पुरुष करते है। दोनो के लिए काम बडा है और अपने-अपने अलग-अलग कामो को ही दोनो पूरी खूबी के साथ अंजाम दे सकते है।

ससार की वृद्धि और रक्षा का काम उसके जिम्मे है। यदि वह सन्तान की

इच्छा करे तो केवल इसलिए नहीं कि वह जब तक छोटी रहे, खेलने का काम दे और जब वह स्वयं बूढ़ी हो जाय तो उसकी सहारा बने। बल्कि नारी यह उच्च भावना और आदर्श सामने रखे कि उसकी सन्तान देश और मानव-मात्र की सच्ची और उपकारी सेवक हो और अपनी प्रतिभा और त्याग से अँधेरे में रोशनी और मुर्दनी में जिन्दगी को पैदा करने वाली हो।

जहाँ चारो ओर स्वत्वों की धूम है वहाँ मै नारी का ध्यान केवल कर्तव्यो की ओर ही आकर्षित कर रहा हूँ। मेरी समझ में यदि कर्तव्य-पालन किया जाय तो स्वत्व स्वमेव आ ही जाते हैं। उनके लिए विशेष प्रयत्न की जरूरत नहीं पड़ती। पुरुषो के हृदयो पर यदि नारी का स्वत्व हो जाय तो इससे बढ़कर दूसरा स्वत्व और क्या हो सकता है ? हृदयो पर स्वत्व का अर्थ केवल वह लचड़ कमजोर भावुकता नहीं है जो प्रेम के नाम से प्रचलित हो जाती है। सच्चे स्वत्व और प्रभुत्व में अन्तर नहीं है। मै चाहता हूँ कि नारी के त्याग, सच्चरित्रता, सद्भावना और उच्चादर्श का सच्चा प्रभुत्व पुरुषों पर हो जाय, वह केवल दिखाऊ स्वत्वो के लालच में पड़कर उस प्रभुत्व को न भूल जाय जिसे ईश्वर ने उसे दिया।

४

गुरुकुल और राष्ट्रीय शिक्षा

इस देश की प्राचीन शिक्षण-शैली अपने ढंग की निराली थी। आज की प्रचलित शैली से वह बहुत ही भिन्न थी। उसी शैली द्वारा शिक्षित पुरुषो और नारियो के रचित ग्रन्थ-रत्न आज भी ससार को चकित कर रहे हैं। हमारा सस्कृत-साहित्य अत्यन्त प्राचीन होने के अतिरिक्त अत्यन्त मधुर और प्रगाढ विद्वत्तापूर्ण भी है। चाहे जिस विषय को आप लेवें और ससार के किसी देश की भाषा के साहित्य से उसकी तुलना करें, भारत का सिर ऊँचा ही रहेगा। उस शैली को आज हम भूल गये हैं, पर उसके चिह्नों को देखकर आज भी गौरव और गर्व का अनुभव भारतवासियो को होता है। उस शैली का मर्म वही है जो हमारी सभ्यता का मूल मंत्र है। हम अपनी शिक्षा द्वारा ऐसे मनुष्य तैयार करना चाहते हैं जो यमनियमादि को मानते और साधते हुए सर्वभूतहित में रत रह सकें। संसार की प्रगति आज दूसरी ओर है। आज ससार का अर्थ यूरोप ही समझा जाता है और उसकी रीति-नीति, आचार-व्यवहार ससार की सभ्यता के लिए कसौटी और माप समझे जाते हैं। यदि हमारी रीति में कुछ ऐसा पाया जाय जो उस कसौटी पर जांचने के बाद खरा न निकले तो वह निकम्मा समझा जाता है। हम भारतीयो की मनोवृत्ति अंगरेजी शिक्षा के फलस्वरूप कुछ ऐसी हो गई है कि हम सब कुछ पश्चिमी रोशनी में ही देखना चाहते हैं। मै यह नहीं कहता कि उस पश्चिमी सभ्यता में कुछ सार अथवा सत्य नहीं है पर मै यह भी नहीं कहता कि जो कुछ है उसी में है और सारा जगत् मिथ्या है। उस सभ्यता और परिपाटी की नींव प्रवृत्ति में है, हमारी निवृत्ति में है। हम यदि किसी विषय में विशेष प्रवृत्ति भी रखते हैं तो वह निवृत्ति के भाव से ही, हम कर्म भी करते हैं तो उसी भाव से।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी भाव की पुष्टि की गई है यथा......

कर्मण्यकर्मय पश्येदकर्मणि च कर्म य।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत्॥
यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिता।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डित बुधा.॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराशय.।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति स.॥

---

१. भाषण : गुरुकुल विश्वविद्यालय, कागड़ी का समायतंन समारोह, सन् १६२८।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह. ।
शारीर केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विपम् ॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर ।
सम सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४, १८–२२

पण्डित या बुद्धिमान् वही है जिसके सपूर्ण कार्य कामना और सकल्प से रहित है; जिसका धर्म कामनालिप्त नहीं है और जिसने ज्ञानरूप अग्नि द्वारा अपने कर्मो को कामना और संकल्परहित बना डाला है। भोगो की सामग्री का त्याग करना और अन्तःकरण पर विजय प्राप्त करके धर्मक्षेत्र में अग्रसर होना ही श्रेष्ठ है। द्वन्द्वों से छूट-कर अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहना और सिद्धि के बन्धन से दूर रहते हुए हर अवस्था और हर काल में समबुद्धि बनाये रखना ही हमारे लिए आदर्श है।

इसके ठीक विपरीत पाश्चात्य अर्थशास्त्र का पहला नियम यह है कि मनुष्यमात्र की सभ्यता की माप उसकी अधिकाधिक बढती हुई प्रवृत्ति ही है। उसी नियम का यह फल होता है कि जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता है उसकी जरूरतें बढ़ती जाती है और उन जरूरतों को पूरा करने के लिए उसे प्रयत्नवान् होना पड़ता है। इस प्रयत्न में उसे इसी प्रकार दूसरे प्रयत्नवान् मनुष्यो का मुकाबला करना पड़ता है और जब दोनो अपनी आकांक्षा पूरी करने पर तुले रहते है तो आपस की मुठभेड़ होती है। इस प्रयत्न में यूरोप आज अपनी सारी शक्ति—बल, बुद्धि, विद्या और धन—को लगा रहा है और इसका नतीजा यही है कि वहाँ की वैज्ञानिक उन्नति को देखकर हम अचम्भे में आ जाते है। पर हम यह भूल जाते है कि इस वैज्ञानिक उन्नति के कारण आज संसार में कितना ही अनिष्ट भी हो रहा है। हम यह नहीं कहते कि इससे कुछ भी लाभ नही है। पर इष्ट और अनिष्ट दोनो को जब तराजू के पलड़े पर तौला जाय तो कदाचित् अनिष्ट का ही पलड़ा नीचे रहेगा। आज हम यह देखकर बहुत प्रसन्न होते है कि विज्ञान द्वारा मनुष्य के दुःख दूर करने के बहुत से उपाय और साधन निकले है। यदि सच्चे ज्ञान से काम लेकर इस विज्ञान को संसार के हित के ही काम में लगाया जाता तो वास्तव में संसार के लिए एक अत्यन्त शुभ काम होता। पर निवृत्ति और त्याग का आदर्श सामने न रहने के कारण यह सारी शक्ति एक घातक प्रतिद्वन्द्विता में लगाई जा रही है। हम ज्ञान-विज्ञान के विरोधी नहीं है और न इसके ही विरोधी है कि ऐतिहासिक उन्नति और सुख की चेष्टा की जाय। पर हमारे सद्ग्रन्थो के जो आदर्श है उनको हम बचा रखना चाहते है। यूरोपीय विचारशील पुरुष भी आज पश्चिमी घुड़दौड़ को कुछ असन्तोष और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे है। यह नहीं कहा जा सकता कि

उनमें त्याग, सत्य, श्रद्धा और निष्ठा नहीं है। यह सब अपने स्थान पर वर्तमान है और यदि यह भी कहे कि मात्रा में वे भारतवर्ष से अधिक वर्तमान है तो यह भी अत्युक्ति नहीं होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि खृष्टीय धर्म में प्रवृत्ति का ही उपदेश है क्योंकि हजरत ईसा ने भी निवृत्ति का उपदेश सर्वमान्य बतलाया है।

पर आज यूरोपीय लोग उस उपदेश से उतनी ही दूर है जितना हम अपने आदर्शों से गिर गये है। भारतवर्ष के सामने और संसार के सामने सबसे बड़े महत्व का यही प्रश्न उपस्थित है कि इस युग की वैज्ञानिक उन्नति और प्राचीन निवृत्ति का समन्वय किस प्रकार किया जाय। हम दीन-हीन भारतीयो के लिए आज इस तरह की बातें मुंह से निकालना भी धृष्टता है। जो स्वय नि:सहाय होकर अज्ञान, स्वार्थपरता और पराधीनता के गढ़े में गिरा हुआ है, उसे दूसरो की स्थिति पर विचारने का क्या अधिकार है? तथापि अपने अतीत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए अपना आदर्श निश्चित करने में इस पर विचार करना ही पडता है। आज की आबहवा और संसार की प्रगति देखकर हमें यह निश्चय करना है कि हमारे लिए इस प्रवाह में पडना कहाँ तक हितकर है?

वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष के रूप में ही गुरुकुल जैसी राष्ट्रीय संस्थाओ का जन्म हुआ है। अतएव इस असन्तोष को या यों कहिये कि इसके विधायक कारणों को दूर करना ही इनका प्रधान उद्देश्य हो सकता है। जहाँ तक भारतवर्ष का सवाल है असन्तोष के दो कारण कहे जा सकते है, एक तो यह कि वर्तमान युग की सारी शिक्षा-दीक्षा यूरोपीय साँचे में ढली हुई है। वह भारतवर्ष के अस्थिमज्जागत आदर्शों के, उसके अन्त:करण के, उसकी आत्मा के सर्वथा विपरीत है। यह हम पहले ही दिखला चुके है। दूसरा एक कारण यह भी है कि वर्तमान प्रचलित प्रणाली हमारे बाह्य जीवन के, हमारी परिस्थितियों के और हमारी शुद्ध सांसारिक आवश्यकताओ के भी सर्वथा प्रतिकूल है। इन द्विविध दोषों को दूर करते हुए भारतवर्ष के योग्य उसकी भीतरी आत्मा और बाहरी परिस्थिति के अनुकूल शिक्षण-शैली का यदि ये विद्यालय पुनर्निर्माण कर सकें तभी इनका अस्तित्व न्यायोचित और लाभदायक समझा जा सकता है। ऐसी शिक्षण-शैली के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आज के सभी ज्ञान-विज्ञान का वर्जन, उसका तिरस्कार या उसका बहिष्कार किया जाय। नहीं, यह तो कभी जायज नहीं समझा जा सकता और न इस बहिष्कार या इसके अनुकूल मनोवृत्ति से आज के जमाने में रहने वाले किसी को लाभ ही पहुँच सकता है। ज्ञान-विज्ञान का वर्जन नहीं होना चाहिए, क्योकि शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए वे भी आवश्यक है। उनका भी प्रभाव हमारे चरित्र पर, हमारे मनोभावो पर पडता है। वर्जन करना है तो उन चेष्टा का, उस मनोवृत्ति का जिसके कारण लोकहित के असीम शक्तिशाली साधन

अपने न्याय्य वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट होकर भीषण, अमानुषिक, पैशाचिक रचनाओं में ही प्रयुक्त होते हैं। यदि दिनोदिन बढता हुआ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तज्जात वर्तमान सभ्यता के रेल, तार, हवाई जहाज, अग्निपोत आदि सारे उपकरण प्राणीमात्र का दु:खलाघव करने, उन्हे सुख-समृद्धि देने, उन्हे आराम पहुँचाने के ही कामों में व्यवहृत हो तो इससे अच्छी बात क्या हो सकती है। हम चाहते हैं कि आधुनिक संसार की ये विचित्र शक्तियाँ उसके कल्याण में लगाई जायँ, किसी एक अंश वा जाति के ही कल्याण में नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के कल्याण में लगाई जायँ और मानव-जाति ही क्यो प्राणीमात्र के कल्याण में लगाई जायँ। इस कारण हमारी आवश्यकता ज्ञान-विज्ञान का वर्जन नहीं, बल्कि उन्हे लोक-हितकर रखने और सदा लोक-हितकर रखने योग्य मनोवृत्ति का अर्जन करने की ओर है। पर यह तब तक सम्भव नहीं जब तक हमारी भोग और विलास की प्रवृत्ति उचित सीमा के अन्दर बद्ध न की जाय, जब तक यम और नियम की कड़ी साधना से हम अपनी इन्द्रियो को वश में न ला सकें और जब तक त्याग और सेवा से हम अपनी आत्मा को पुष्ट न करलें। हमारे गुरुकुलो तथा अन्य राष्ट्रीय विद्यालयो का यह उद्देश्य होना चाहिए कि आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा और सम्प्रदान करते हुए भी वे हमें आत्मनिग्रह, त्याग तथा सेवा की दीक्षा दें।

पर इतना ही यथेष्ट नहीं है। यद्यपि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र-गठन, उसकी दैहिक-आत्मिक शुद्धि, उसका मानसिक विकास है, पर इतने से ही उसका काम संसार में नहीं चल सकता। मनुष्य तो अनेकांश में सामाजिक जीव है, वह संसार का एक अंग और वह भी छोटा-सा अंग है। वह अपने इर्द-गिर्द रहने वालो से अपने समाज और देश के लोगों से किनारे रहकर उन्नति नहीं कर सकता। यही नहीं बल्कि अपनी परिस्थिति के भला या बुरा होने पर, अपने सगे-सम्बन्धी, अपने हितमित्र, अपने ग्रामवासी, प्रान्तवासी या देशवासी के सुख-दुःख पर उसका भी अनेकांश में भला-बुरा, सुख-दुःख निर्भर है। इसलिए वह जो कुछ जानता है, जो कुछ सीखता है, जो कुछ उपार्जन करता है, जो कुछ भी शक्ति—आर्थिक, मानसिक या आत्मिक—उसके पास है, उस सबका उचित उपयोग यही हो सकता है कि वह उन्हें अन्य लोगो के हित में लगावे। इस कारण भारत की कोई भी ऐसी संस्था राष्ट्रीय या भारतीय कहाने की हकदार नहीं हो सकती जो अपने विद्यार्थियो को भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति का, उसके अभावो का, उसकी आवश्यकताओ का, बोध न करावे; जो भारतीयो की हीनता का, उनकी दीनता का, उनके कष्टों का, उनकी कठिनाइयो का, उनकी दुःख-दरिद्रता का तथा उनके गुण-दोष का अनुभव न करा सके; जो उन्हें उनके क्लेशो से मुक्त करने का, उनकी कमियो को पूरा करने का, उनकी दुर्बलता को दूर करने का, उनमें दृढ़ता लाने का, उनमें उमंग-उत्साह भरने का, उनकी बिखरी शक्ति का संचय करने का, सारांश उनमें नवजीवन-

संचार करने का मार्ग न बतावे और उस मार्ग पर संकल्प, साहस, अध्यवसाय और एकाग्रता के साथ चलने की अभिरुचि और योग्यता न उत्पन्न करे। यदि प्राचीन आध्यात्मिकता और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समन्वय हमारे विद्यालयो का मूल है तो देश का उद्धार, समाज का सुधार और दु.ख-दरिद्रता से लोगो का निस्तार उनका पदय मधुर फल है, उनकी चरम परिणति है। हम चाहते हैं कि हमारे सब राष्ट्रीय विद्यालय इस ओर अपना ध्यान दें और इसी को अपना ध्येय, अपना लक्ष्य बनाकर इसी ओर अपने विद्यार्थियो को प्रवृत्त करावें, इसी की उन्हें दीक्षा दें और इसी की उपयुक्त शिक्षा देने में अपनी सारी शक्तियों को लगावें।

यह तो सब कोई जानते हैं कि भारतवर्ष के अधिकाश लोग ग्रामो में ही रहते हैं और उनका प्रायः सारा सरोकार ग्रामो से ही है। मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से पता चलता है कि १९२१ में भी प्रायः ९० फी सदी मनुष्य ग्रामों में ही रहते थे और १८९१ से १९२१ तक अर्थात् पूरे तीस वर्षों में नगरो की जनसख्या में केवल १ सैकडे की वृद्धि हुई है। यदि यह क्रम जारी रहा तो भी भारतीयो के नगरवासी होने में प्राय. तीन हजार वर्ष लगेंगे। इस कारण कार्यत· हमें इस बात को स्वीकार कर लेना होगा कि भारतवर्ष ग्रामीण है और कम-से-कम हजारो वर्ष तक ग्रामीण रहेगा। ऐसी दशा में ग्राम और ग्राम्य-जीवन को ही भारतवर्ष के राष्ट्र और भारतीय सभ्यता का आधार मानकर हमें अपनी शिक्षण-शैली निर्मित करनी होगी। अतएव ज्ञान-विज्ञान, धर्म-सहिता चाहे जिस विषय या कला के शिक्षण का हम प्रबन्ध करें, हमें सदा ध्यान रखना होगा कि ग्राम्य-जीवन का सुदृढ़ और संस्कृत भित्ति पर पुन.सगठन ही हमारा मुख्य कार्य होगा। यदि हम वास्तव में भारत का कल्याण चाहते है और उसके सम्पादन में उचित भाग लेना चाहते है तो उसी में हमारी विद्या-बुद्धि का सदुपयोग होगा, उसी में इनको प्रयुक्त करना होगा, उसी ओर इनके मुख को मोड़ना पड़ेगा, और इनके शक्ति-केन्द्र को झुकाना होगा।

आज की सरकारी शिक्षा-प्रणाली इसकी विपरीत दिशा की ओर प्रबल वेग से दौड़ती जा रही है। यदि इसके इन प्राय· डेढ सौ वर्षो के इतिहास की समीक्षा की जाय तो पता चलेगा कि यह हमें अपने वास्तविक जीवन-केन्द्रो (देहातो) से हटाकर नगर की ओर ही लिये जा रही है। हम इतने दिनो में क्या बने है? वकील, इञ्जीनियर, डॉक्टर और सबसे बढ़कर सरकारी दफ्तरो के नौकर। जो लोग अपने को स्वाधीन पेशेवर कहते है जैसे वकील, डॉक्टर, इञ्जीनियर आदि वे भी नाम के ही स्वाधीन हैं। वास्तव में वे उतने ही पराधीन है जितना कि कोई साधारण सरकारी नौकर हो सकता है। वे जहां चाहे वहां जाकर अपनी विद्या, बुद्धि या कौशल का उपयोग नहीं कर सकते। थोड़े से इने-गिने शहरो में ही उनका जौहर खुलता और

खुल सकता है। जिन साधनों और उपकरणों के जरिये वे अपना काम करते हैं वे, नगरो की ही कृति है, वहीं उनकी प्राप्ति सुलभ है तथा वहीं उनका प्रयोग और उपयोग सम्भव है। सरकारी नौकरो का तो कुछ कहना ही नहीं है। उनका तो मुख्य कर्मक्षेत्र नगर ही है। जैसे-जैसे इस प्रणाली का वेग बढता गया है और हम इसके प्रवाह में इच्छा या अनिच्छा से, समझ या न समझी से खिचते गये हैं, वैसे ही वैसे हम ग्रामो से विमुख होकर शहरो की ओर चल पड़े हैं और आज हमारा ग्रामो से परिचय भी वाकी नहीं रह गया है। वहुतो को तो छुआछूत की भी नौवत नहीं आती। यदि यह रोग यहीं पर रुक जाता तो भी उतना वुरा नहीं होता। पर नहीं, यह तो हैजा, विसूचिका से भी अधिक सक्रामक है। हमारी चाल-ढाल को देखते-देखते वे व्यक्ति भी हमारा अनुकरण करने लगे हैं जिन्हे नौकरी के पेशे से कोई सरोकार नहीं, जैसे जमींदार, ताल्लुकेदार आदि। वे भी देहातो को छोड़कर शहरो में रहना सभ्यता का लक्षण समझने लगे हैं और उनमें से अनेको ने अपना निवास शहरो में ही कर लिया है और यदि कुछ सरोकार अव तक देहातो से रखते हैं, तो वह शहरो के खर्च मुहैया करने के लिए ही रखते हैं। इसका जो परिणाम हुआ है वह सर्वत्र स्पष्ट रूप में जाहिर है। देहातो में भंख लोट रहा है। उनकी रौनक जाती रही, उनकी शक्तियां छिन्न-भिन्न हो गईं, उनकी सुसंगठित पचायतें लुप्त हो गईं। वहां के लोग तरह-तरह की वीमारियो के शिकार वन रहे हैं, इसको देखने वाला कोई नही है। उनके लिए दवा दारु का इन्तजाम करने वाला कहीं कोई नहीं है। आज देहाती लोग दुःख-क्लेश से पीड़ित हैं, दरिद्रता की चक्की में पिस रहे हैं, भूख और अनशन से प्राण-त्याग कर रहे हैं, उनकी खोज-खवर करने वाला, उनका करुण क्रन्दन सुनने-सुनाने वाला कोई नही है। हम अपनी आंखो ये सव देख रहे हैं, पर नौकरी की मोहमाया हम से नहीं छूटती और छूटे भी कैसे ? नौकरी ने तो अफीम की घुट्टी की तरह हमें निर्वल, निश्चेष्ट, निरुद्यम, निरुत्साह वना दिया है। हम में सोचने-समझने की, यहां तक कि हाथ-पैर चलाने की भी शक्ति वाकी नहीं रह गई है।

पर नौकरी हमें काफी तादाद में मिल जाती है, यह वात भी नहीं है। यह तो मृगतृष्णा की नाईं, मरीचिका की नाईं हमे अपनी ओर खींचे लेती है। यह हमारी पिपासा को तृप्त नहीं करती, हमारे हृदय की ज्वाला को शान्त नहीं करती, वल्कि मृगतृष्णा की तरह अन्त में हमारे सर्वनाश का ही कारण हो जाती है। हम न तो इधर के रहते हैं, न उधर के हो सकते हैं। नागरिक जीवन विताने का साधन नौकरी मिलती ही नहीं और देहाती जीवन के उपयुक्त हम वनाये ही नहीं गये। आज सरकारी स्कूलो और विश्वविद्यालयों के प्रचुर व्यय और परिश्रम से उत्पन्न मैट्रिकुलेटों, वल्कि ग्रेजुएटो को देखिये। उनसे वढ़कर क्या कोई और करुणा का उपयुक्त पात्र हो

सकता है ? ऐसी दस-बीस रुपये की मामूली नौकरी भी कोई नहीं है, जिसके लिए इन में से सैकडों की दरखास्तें वर्षा की बूंदो की तरह अजस्र धार में न बरसती हों। तब फिर क्योकर यह कहने का कोई दावा कर सकता है कि सरकारी शिक्षालयो में पढने से नौकरी मिलती है। सरकारी विद्यालयो के, सरकारी शिक्षण-पद्धति के, बड़े-से-बड़े, कट्टर-से-कट्टर पक्षपातियों से मैं पूछता हूँ—क्या वे बता सकते हैं कि उनमें पढे हुए सबको नौकरी मिल जाती है या किसी-न-किसी रूप में उस पढाई के बल पर ही उनकी रोटी का सवाल हल हो जाता है ? यदि नहीं, तो फिर बारबार यह सवाल क्यो पूछा जाता है कि राष्ट्रीय विद्यालयो के विद्यार्थियो का भविष्य क्या होगा, उनकी रोजी कैसे चलेगी ? यदि रोटी का प्रश्न दोनो जगह एक-सा ही है तो राष्ट्रीय विद्यालयो को ही लोग क्यो न अपनावें, क्योकि इनमें कम-से-कम देश-सेवा राष्ट्र-सेवा और समाज-सेवा का अवसर तो मिलेगा जो सरकारी विद्यालयो की मार्फत नही मिल सकता। वहाँ तो केवल सरकारी चक्की को चलाना है, सरकार को अपना राज्य कायम रखने में मदद करना है, उसके शासन को हमारे गले में गुलामी के तौक की तरह बाँधे रखने में अनजान उपकरण बनना है—अपनी ही विद्या-बुद्धि को अपने विरुद्ध और दूसरो के हित में लगाना है।

यदि सरकारी शिक्षण-पद्धति सरकार के हितार्थ बनी है तो राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली राष्ट्र के हितार्थ होनी चाहिए और राष्ट्र का केन्द्र जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, ग्रामो में है, शहरो में नहीं। हमारी शिक्षा को उसका अनुगामी होना है, केन्द्रानुग शक्ति की तरह उसे सदा उसी केन्द्र की ओर सचारित होना है, उसे सर्वथा ग्रामाभिमुखी बनना है। हम बहुत दिनो तक लक्ष्यभ्रष्ट, पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर घूमते रहे हैं। हमें शीघ्र अपने वास्तविक लक्ष्य, अपने सच्चे पथ पर आ जाना चाहिए और गुरुकुल जैसी राष्ट्रीय सस्थाओ को ही हमें इस पथ पर ले जाने का श्रेय होना चाहिए।

जिस समय अगरेजी शिक्षा-प्रणाली की नींव इस देश में पडी थी, तब लॉर्ड मेकाले ने अगरेजी शिक्षा का लक्ष्य सरकारी कर्मचारी तैयार करना निर्धारित कर लिया था और उस समय से आज तक सरकारी विश्वविद्यालयो ने उस लक्ष्य को अपने सामने बराबर रखा है। उन विश्वविद्यालयो मे समय-समय पर नियमो में, पाठयक्रम में और पठन-पाठन की शैली में परिवर्तन होता गया है, पर वह लक्ष्य कभी नहीं बदला। इसी प्रकार हमारी शैली और पाठयक्रम में अदल-बदल होते रहने पर भी हमारा लक्ष्य सदा एक ही होना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षालयो का यह उद्देश्य और प्रयत्न होना चाहिए कि उच्च शिक्षा और ज्ञान के साथ अपने विद्यार्थियो मे सच्चरित्रता और शुद्ध सेवा-भाव उत्पन्न करके उनको इस योग्य बनायें कि देशहित और लोकहित के काम उनके द्वारा सम्पादित हो सकें। देश की अवस्था इतनी गिरी हुई है कि इसके लिए

असंख्य त्यागी सेवकों की आवश्यकता है और वे भी ऐसे सेवक नहीं जो केवल धन और सुख की लालसा को छोड़ सकते हों. पर ऐसे सेवक जो यश और ख्याति की भी अभिलाषा न रखते हों। सच पूछिये तो धन और सुख की लालसा छोड़ देना उतना कठिन और कष्टकर नहीं है जितना यश और ख्याति की अभिलाषा से मुंह मोड़ना। पर यदि हम सच्ची सेवा करना चाहते हैं तो वह ग्रामीणों के साथ रहकर ही हो सकती है और उसका यशगान करने वाला विरला ही कोई मिलेगा। यदि धन की लालसा धन के लिए न रखकर पर-सेवा की योग्यता प्राप्त करने के लिए रखी जाय तो वह भी मनुष्य को उचित सीमा से बाहर नहीं निकलने देगी और मनुष्य धन का दास न बनकर उसका स्वामी, वास्तविक रूप से जैसा होना चाहिए वैसा हो सकेगा। इसलिए विद्यालयों का मुख्य कर्तव्य विद्यार्थियों का चरित्र-गठन ही है। पर वहाँ का जीवन भी कुछ ऐसा होना चाहिए जिसमें भविष्य के काम का कुछ अनुभव भी छात्रों को हो जाय। इस कारण ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अतिरिक्त शिक्षाक्रम में ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे ग्राम्य-जीवन के विविध अंगों से उनका पूर्ण परिचय हो जाय और ग्रामीणों की सेवा की पूरी योग्यता उनमें आ जाय।

मनुष्य के सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए दो प्रकार की आवश्यकताएँ हैं—एक शारीरिक और दूसरी आध्यात्मिक। शारीरिक आवश्यकताओं में अन्न और वस्त्र ही मुख्य हैं। इन दोनों की साधारण रीति से पूर्ति होने पर ही मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन और मनन कर सकता है। इस सुजला, सुफला और शस्य-श्यामला भारतभूमि में अन्न पूरी मात्रा में उत्पन्न हो सकता है और यद्यपि उसमें भी बहुत-कुछ सुधार और उन्नति की गुंजाइश है, पर इस समय हमारे सम्मुख वस्त्र की बड़ी कमी है। इसके लिए हमें विदेशों और विदेशियों पर ही निर्भर करना पड़ता है जिसके कारण हमारे अप्रचुर अन्न-धन का भी एक बड़ा भाग बाहर चला जाता है। इस सम्बन्ध में मार्के की बात यह है कि प्रायः ६० करोड़ के कपड़े विदेशों से आते हैं और करीब इतने ही मूल्य के अन्न विदेशों को जाते हैं। इस समय हमारे ग़रीब किसान अपनी जरूरियात को अन्न बेचकर ही पूरा कर सकते हैं। इसलिए कपड़े के बदले उन्हें अन्न ही देना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वस्त्र के विषय में वे स्वतन्त्र हो जायँ तो उन्हें जीवन की प्रधानतम आवश्यकता अन्न से वञ्चित न होना पड़े। इस तरह की स्वतन्त्रता का लाभ करना चरखे द्वारा पूर्ण मात्रा में सम्भव है। मिलों से इतने कपड़े का बन जाना सम्भव जरूर है, पर इसका लाभ किसानों को नहीं हो सकता और उनके लिए जो स्वतन्त्रता हम चाहते हैं, उन्हें नहीं मिल सकती। चरखे का यही महत्त्व है कि यह व्यक्तिगत रूप से हर आदमी को स्वतन्त्र बना सकता है और इस प्रकार उनके मार्ग से इस बड़ी बाधा को दूर कर, उन्हें आध्यात्मिक उन्नति

के पथ पर अग्रसर करा सकता है। हमारे शिक्षालयो द्वारा देश का यह बडा काम साधित होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के वास्तविक कार्यक्षेत्र में यह एक बहुत ही सुन्दर और आवश्यक उदाहरण होगा। पर इस काम को उचित रूप से सम्पन्न करने के लिए तथा जनता की अन्य प्रकार की उन्नति और भाववृद्धि करने के लिए अनेकानेक कार्यकर्त्ताओ की आवश्यकता है जो प्राचीन भिक्षुओ और संन्यासियो की तरह शुद्ध लोकहित और सेवा के भाव से गांव-गांव में फैल जायें और हमारी गिरी हुई जनता को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जड़ता से मुक्त कर उसमें सच्चे, धार्मिक और स्वतन्त्रता के भाव उत्पन्न करें और उसे अपने पैरो पर खड़ा होने की योग्यता प्राप्त कराने में सहायक बने।

तृतीय खण्ड

वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति

१

विज्ञान की साधना और साध्य

२

व्यावहारिक कृषि-विज्ञान

३

भारत में विज्ञान की प्रगति

४

सांख्यिकी-शास्त्र का महत्त्व

१

विज्ञान की साधना और साध्य

मैं जिस जमाने में कालेज में पढता था उसी जमाने में शायद हमारे गवर्नर साहब भी पढते थे और उन दिनो में साइंस को जो स्थान मिला था, वह बहुत छोटा था। गरचे उस जमाने में भी इन्टरमीजिएट में, जो एफ. ए कहलाता था, साइंस पढाई जाती थी, पर बहुत थोड़ी। सब लोगों को फिजिक्स, केमिस्ट्री आदि का ज्ञान नहीं दिया जाता था और न उस जमाने में बी एस-सी की कोई डिग्री थी। जो आर्टस् लेकर पास करते थे, वे बी. ए. कहलाते थे और साइंस लेकर बी ए पास करने वाले बी कोर्स में बी ए पास कहलाते थे। मगर आप ऐसा न समझें कि उस वक्त साइंस के प्रोफ़ेसर नहीं हुआ करते थे। मुझे सर जगदीशचन्द्र बोस और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे आचार्यों के नीचे बैठकर कुछ पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त था। उस वक्त से आज का हिन्दुस्तान बहुत बदल गया है। मैं मानता हूँ कि गरचे यूनिवर्सिटियो को स्थापित हुए १०० वर्ष हो गये। सब यूनिवर्सिटियो को नहीं, लेकिन जो पहली यूनिवर्सिटी कायम हुई वह प्रायः १०० वर्ष पहले हुई, मगर प्राय. ७०-७५ वर्ष तक साइंस की तरफ़ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया और अगर हमारे देश ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक तैयार किये तो वह हमारी यूनिवर्सिटियो की वजह से नहीं, बावजूद यूनिवर्सिटियो के वे निकले और उन्होने जो कुछ किया वह मैं जानता हूँ कि कितनी दिक्कत से उन्होने किया। मुझे याद है कि जब मैं प्रेसीडेन्सी कालेज में पढ़ता था तो वहाँ इस बात का झगडा रहा करता था कि सर जे० सी० बोस और डॉक्टर पी० सी० राय को रिसर्च करने का मौका दिया जाय या नहीं। बात यह थी कि उन दिनों सर्विस का बटवारा ऐसा था कि जो लोग ऑल इण्डिया सर्विस के समझे जाते थे और जो प्रोविन्शियल सर्विस के समझे जाते थे उन दोनो के बीच एक दर्मियानी सर्विस भी होती थी, जिसमें बोस और राय समझे जाते थे। उस जमाने में कोई अगरेज इगलेंड से पास करके आ जाता तो वह डॉक्टर बोस से भी सीनियर होता और उसको यह अख्तियार रहता कि वह पढ़ाने के काम का बटवारा करे। इसी में झगडा रहता था। जो नये नवयुवक प्रोफेसर आते थे उनके नीचे डॉक्टर बोस और डॉक्टर राय दोनों ही

१. भाषण: लखनऊ विश्वविद्यालय में फिजिक्स ब्लाक का उद्घाटन, १९ फरवरी. १९५१।

हो जाते थे और वह उन पर वहुत पढाने का काम लाद दिया करते थे। वह सुवह ६ वजे से ६ वजे रात तक लेवोरेटरी में काम करते थे और वीच-वीच में लेक्चर भी दिया करते थे। वाकी समय में रिसर्च किया करते थे। एक दिन वह था और एक दिन आज है जव आपकी यूनिवर्सिटी में ७६ छात्र रिसर्च के काम में लगे हुए हैं। इतना वड़ा अन्तर यूनिवर्सिटी की पढाई मे पड गया है और यह अन्तर अगर समझा जाय तो जैसे और काम में अन्तर पड़ा है उसी तरह से पड़ गया है। ऐसा होना भी चाहिए। यह युग साइंस का युग है। इस युग में कोई भी देश साइंस से वढेगा, प्रगति करेगा और जहाँ साइंस नहीं होगी वहाँ उसको पीछे रहना पड़ेगा, इसमें कोई शक नहीं है। इसलिए भारतवर्ष आज वहुत वातो में पीछे पड गया है क्योंकि इसको मौका नहीं था कि साइस में जितना हिस्सा यह लेना चाहता था, उतना ले। अव इसको इसका मौक़ा मिलने लग गया है।

मैं समझता हूँ कि देश भर में साइंस का काम होने लगा है और दिन पर दिन वढता जा रहा है। थोडे ही दिनों में इसको पूरा मौका मिलेगा और आज के ऐसे इक्के-दुक्के नहीं, वल्कि वडी तादाद में साइस वाले काम में लग जायेंगे और हमारे देश का दूसरे देशो जैसा ही स्थान साइंस के क्षेत्र में होगा। साइंस में जो पिछले दो सौ वर्षों में तरक्की हुई है, उसके चिह्न आज सभी जगह देखे जा रहे हैं। जो पिछडे हुए देश हैं, वहाँ भी उसका कुछ तो असर पड ही गया है। हमारी दिन-प्रति-दिन की जिन्दगी में भी उसका असर पडा है और वह असर दिन पर दिन वढ़ता ही जा रहा है।

मैं समझता हूँ कि अव कुछ दिनो के अन्दर यह चीज भी आ रही है कि दूर से जो एक दूसरे से फोन पर वातें करते है, उनका मुंह भी टेलीविजन पर देख सकें। यह इस देश में भी आ जायगी। अभी दूसरे देशो मे है। मालूम नहीं अभी कोई यहाँ आई है या नहीं। अगर नहीं आई तो जल्दी ही इस देश में भी आ जायगी। इस तरह एक आदमी वहुत दूर वैठकर भी दूसरे आदमी की सिर्फ वातें ही न सुन सकेगा वल्कि उसे देख भी लेगा। जहाँ रोशनी नही पहुँचती वहाँ भी हम दिन वना सकते है और मुमकिन है कि दिन को रात भी वना सकें। हम लोगो ने वचपन में सुना था और यह रामायण में भी लिखा हुआ है कि रावण ने पवन को कैद करके रखा और वह उसका घर प्रतिदिन वुहार जाता था और रावण ने मेघ को भी कैद करके रखा था और वह जव जहाँ चाहता था पानी वरस जाता था। हम लोग समझते थे कि यह सव कल्पित चीजें हैं, मगर आज हम देख रहे है कि पवन, मेघ और कोई ऐसी चीज नहीं रह गई है जिसे मनुष्य ने अपने वस में कुछ हद तक न कर लिया हो और जो वाकी रह गई है उस पर भी कुछ दिनो में वह काबू कर ही लेगा। अव प्रश्न यह है कि हम उनका रावण के जैसा इस्तेमाल करें या राम के जैसा। हम उनका इस्तेमाल लोगो की और संसार

की भलाई के लिए करें या उनकी बुराई के लिए। आज यूनिवर्सिटियो के सामने और सब देशो के सामने यही बड़ा प्रश्न है। केवल ताकत हमारी ही नहीं बढ़ती जा रही है, संसार की ताक़त भी बढ़ती जा रही है। उस ताकत को हम विनाश में लगायेंगे या रचनात्मक काम में लगायेंगे, यही प्रश्न हम सबके सामने है। मै यह आशा रखूंगा कि हमारी यूनिवर्सिटियो में कम-से-कम इस तरह की शिक्षा देने का व्यवस्था तो होनी ही चाहिए कि हम उसको किस तरह से प्रयोग में लायेंगे। उसको समेटने के लिए तैयार करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। अगर यह नहीं होगा तो मालूम नहीं कि देश का क्या होगा और संसार का क्या होगा? साइंस अपनी जगह पर बहुत बड़ा काम कर रही है। अगर कोई कहे भी कि हम अपने को इससे अलग रख सकते है तो यह ठीक नहीं होगा, क्योकि ऐसा करना संभव नहीं है। मेरा ख्याल है कि अगर भारतवर्ष आज इस शक्ति का इस तरह से उपयोग करे और इस तरह से अच्छे काम में लगाये तो यह दुनिया को कुछ दे सकेगा और साइस के लिए उसकी यह एक बड़ी देन होगी जिसके लिए सारा ससार उसका कृतज्ञ होगा। आज हमारी यूनिवर्सिटियों के सामने यही चीज आती है। केवल जितनी मौलिक चीजें है उन पर काबू पाना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उन पर काबू करके उनको किस तरह से काम में लायेंगे, यह सीखना भी आवश्यक है। इसके लिए जितनी तैयारी की जरूरत है उतनी ही तपस्या की और उतनी ही योग की जरूरत है। मै मानता हूँ कि आजकल के सच्चे योगी वे ही है जो लेबोरेटरी में काम कर रहे है। जो लोग अपने हाथों को ऊपर करके हाथों की हड्डियाँ सुखा देते है वह भी सच्चे योगी नहीं है। जो लोग एसिड लेकर पी जाते है और लोहा खा जाते है और उनका कुछ नुक़सान नहीं होता, वह भी सच्चे योगी नही है। सच्चे योगी वह है जो लेबोरेटरी में बैठकर दिन-रात एक करके संसार में छिपी हुई शक्ति खोज निकालते है और उससे काम लेना सीखते है। मगर हम शक्ति के उपार्जन के साथ-साथ इसका प्रयोग करना भी सीखें तो अच्छा होगा। साइस की सबसे बडी देन उसका निर्भीक तरीका है। वह किसी चीज का सच्चा रास्ता बतलाता है। छानबीन के बाद यदि कोई चीज जिसे वह सच्चा रास्ता मानता रहा है, ग़लत साबित हो जाय तो वह किसी चीज पर मोह न करके उसे छोड़ देता है। ऐसा बारम्बार हुआ है। हम लोग जब पढ़ते थे तब हमने सुना था कि एटम चीरा नहीं जा सकता—उससे छोटी कोई चीज नहीं है, उसका टुकडा नहीं हो सकता। आज हम देखते है कि उसके अटूट टुकड़े से न मालूम कितनी चीजें हम तैयार कर सकते है। साइंस ने इस सत्य को दबाकर नहीं रखा। इस सिद्धान्त को छोड देने में साइन्टिस्टो को मोह नहीं हुआ। मै चाहता हूँ कि जो साइस में लगे हुए है वे अनासक्त होकर काम करें। मगर मै जानता हूँ कि साइंस वाले भी कहीं-कहीं मोह मे पड़

जाते है और प्रेजुडिस्ड हो जाते है। जिस चीज का उनको पता नहीं मिलता, वह समझते है कि उस तरह की कोई चीज है ही नहीं। मै समझता हूँ कि साइंस का सब से सुन्दर सिद्धान्त यही है कि सब चीजो को देखते हुए वह नेति-नेति कहता है और जब तक वह भावना उसमें रहेगी, वह बढता जायगा। उसको समझना चाहिए कि वह सच्चाई के अन्तिम रूप तक अभी नहीं पहुँचा है। हो सकता है कि जिसे वह आज ठीक समझता है वह कल गलत साबित हो और जो आज गलत मालूम होता है वह कुछ दिनों के बाद सही मालूम हो। मै तो यही चाहूँगा कि साइंस के लोग इस तरह का गर्व नहीं करें कि जो उन्होने कर दिया वह आखिरी बात है, बल्कि यह समझें कि वह आखिरी नहीं है। उन्हें उससे भी आगे मैदान तय करना है और उनकी जो विद्या है उसे ठीक तरह से काम में लाना है। वे किसी खोज को अपना बनाकर और छिपाकर नहीं रखें जिससे कि खोज करने में दिक़्क़त हो। इस तरह की बातें आजकल देखने में आती है। लोग कह देते है कि यह चीज आज की साइंस के मुताबिक नहीं है। हो सकता है कि उनका ऐसा कथन सच हो। मगर उसकी सच्चाई को देखना चाहिए और देखने के बाद अगर ऐसा होता हो तो उसे माना जा सकता है। मगर बिना पूरी तरह से जाँच किये अगर कोई ऐसा कहता है तो मै कहूँगा कि यह उचित नहीं और यह ठीक साइंस भी नहीं है। अगर इस तरह की सब चीजो पर ध्यान दिया जायगा और खोज में कोई आखिरी बात नहीं समझी जायगी और ऐसा समझा जायगा कि आगे भी मैदान तय करना है और इस तरह से सब काम में लगे रहेंगे तो मै समझता हूँ कि दिन-प्रति-दिन साइंस के जरिये संसार की तरक़्क़ी होगी और आज जो वीभत्स ताण्डव नृत्य देखने में आ रहा है वह भी समाप्त हो जायगा।

आप भस्मासुर की कथा जानते है। उसने बड़ी तपस्या की और शिवजी ने उससे कहा कि वरदान माँगो। उसने कहा कि जिसके सिर पर मै हाथ रख दूँ वह भस्म हो जाय—यही वरदान दें। उन्होंने कहा कि अच्छा ऐसा ही हो! अब उसने सोचा कि पार्वती के समान सुन्दर स्त्री दुनिया में कोई नहीं है, इसलिए शिवजी के सिर पर ही हाथ रख दूँ जिससे शिवजी भस्म हो जायँ और पार्वती मुझे मिल जाय। जब उसने शिवजी के ही सिर पर हाथ रखना चाहा तो उनको भागना पड़ा, क्योंकि वह अपना वरदान तो वापस ले नहीं सकते थे। शिवजी सारी दुनिया में भागते रहे और वह उनका पीछा करता रहा। पार्वती जी शिवजी का संकट देखकर भस्मासुर के पास आई और उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो? उसने कहा कि मै आपको ही चाहता हूँ। उन्होने कहा—'बस इतना ही! तो फिर इतना परेशान क्यो होते हो? मुझे खुश कर लो, मै तुम्हारी स्त्री हो जाऊँगी।' उसने कहा कि आप खुश कैसे होगी? उन्होंने कहा कि तुम अपने सिर पर हाथ रखकर नाचो और मै उससे खुश हो जाऊँगी।

उस बेवकूफ ने समझा नहीं और मामला खत्म हो गया। अत. साइंस चलते-चलते आज ऐसे स्थान पर पहुँच गई है कि वह भस्मासुर का नाच कर रही है। यदि वह समझी नहीं तो उसकी भी भस्मासुर की ही गति होगी। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के साइन्टिस्ट लोग साइंस का ज्ञान हासिल करने में अपने को आगे बढ़ायें मगर साथ-ही-साथ यह भी सीखें कि वे भस्मासुर की तरह किसी के सिर पर विनाशकारी हाथ तो नहीं रख रहे।

२

व्यावहारिक कृषि-विज्ञान[1]

यहां फिर एक बार आने से और इस प्रतिष्ठान में किये जाने वाले कार्य को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। जब मेरा कृषि-मन्त्रालय से सम्बन्ध था तब मैं कई बार इस प्रतिष्ठान में आया था। लेकिन जब से मैं विशाल भवन में गया हूँ तब से यहाँ आने का मेरा यह पहला अवसर है। आपके कार्य में मुझे सच्ची दिलचस्पी है। उसका कारण यह है कि मैं समझता हूँ और आपको भी इस बात को समझना चाहिए कि भारत का मुख्य उद्योग कृषि है। भारत में ८० प्रतिशत से भी अधिक लोग इस पर निर्भर करते हैं और उद्योग भी अपने कच्चे माल के लिए कृषि पर ही निर्भर करता है। अतः मेरा विचार है कि जो काम आप यहाँ पर कर रहे हैं वह देश की सबसे अच्छी सेवा है। आजकल हमें इस बात का प्रयास करना है कि हमारे कृषकों की ऐसी सहायता की जाय कि वे हमारी सारी जनसंख्या के लिए अन्न उपजाने के लिए समर्थ हो जायें। वास्तव में यह अत्यन्त खेद और लज्जा की बात है कि जो भारत अब तक कृषि-प्रधान देश रहा है वह अपने लिए पर्याप्त अन्न नहीं पैदा करता। इस कारण आपके कार्य का महत्त्व पैदा होता है। अब यह आपका काम है कि हमारी आवश्यकतानुसार अन्न पैदा करने में आप देश की सहायता करें। हमारी जनसंख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। हम भूमि का क्षेत्र नहीं बढा सकते। यह ठीक है कि अभी तक कुछ भूमि ऐसी है जिसे खेती में नहीं लगाया गया है और जिसे खेती में लगाया जा सकता है। किन्तु वह इतनी नहीं है कि हमारी बढ़ने वाली जनसंख्या के लिए पर्याप्त हो। अतः यह प्रश्न है कि आवश्यक अन्न को कैसे पैदा किया जाय। इस बारे में कुछ तो करना ही है।

हमारे सामने यह काम है कि हम भूमि की पैदावार की मात्रा बढ़ाने की रीति का पता चलायें। विज्ञान ने जीवन के अनेको क्षेत्रो मे चमत्कारिक काम किये हैं। मेरा विश्वास है कि भारत भी यह चमत्कार दिखा सकता है। हमारे कृषक भी खाद देकर या दूसरे तरीक़ो से पैदावार बढ़ाने की कला जानते हैं, किन्तु उनके तरीक़े बहुत ही दकियानूसी हैं। मुझे आशा है कि वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओ की सहायता

---

१ भाषण भारतीय कृषि-गवेषणा प्रतिष्ठान के स्नातकोत्तर विद्यार्थियो के समक्ष, ३० अगस्त, १९५०।

से और विशेषतया आपकी संस्था के प्रयास से जो कृषि में सुधार के आधारभूत प्रश्न पर ही अपना सारा प्रयास केन्द्रित किये हुए है, हम भविष्य में अधिक पैदावार करने में सफल हो जायँगे। मुझे विश्वास है कि आवश्यक अन्न किस प्रकार पैदा किया जा सकता है, यह तरीका सुझाने के लिए आप समर्थ सिद्ध होगे। ऐसी कोई बात नहीं है कि भूमि के उतने ही क्षेत्र में अधिक अन्न क्यो न पैदा किया जा सके। अन्य देशो की तुलना में हमारे यहाँ फी एकड़ भूमि की पैदावार लगभग एक तिहाई या एक चौथाई है। किन्तु साथ ही आपको यह भी पता चलाना है कि इस बात के बावजूद कि हमारे देश में शताब्दियो तक खेती होती रही है फिर भी हमारी भूमि का उर्वरापन अभी बहुत कुछ बना हुआ है जब कि अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जहाँ खेती वैज्ञानिक ढंग से की जाती है और जहाँ पिछले सौ-डेढ सौ वर्षो से ही भूमि को खेती में लगाया गया था वहाँ भूमि के उर्वरापन में कमी आने के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आपको यह पता चलाना है कि क्या कारण है कि अपने वैज्ञानिको के बावजूद ये देश अपनी भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में असफल हो रहे हैं जब कि हमारे लोग जिनकी खेती का तरीका अवैज्ञानिक है पिछली शताब्दियो में अपनी भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में समर्थ सिद्ध हुए है। मेरा अपना विचार तो यह है कि साधारण कृषि में खाद के जरिये या फसल के हेरफेर से हम भूमि को वे चीजें लौटा भी देते हैं जो हम उससे निकालते हैं।

आधुनिक सभ्यता के युग में हम आमतौर से एक क्षण में इतनी चीजो का प्रयोग कर डालते है जितनी कि करोड़ो वर्षो में बन पाई है। उदाहरणार्थ, कोयले और पेट्रोल को लीजिए। हम उन्हे करोडों टन की मात्रा में काम में ला रहे हैं। इसको हम पुनः प्रकृति को वापस नहीं लौटा रहे हैं। बहुत काफी छोटे पैमाने पर कुछ ऐसी ही बात खेती के लिए भी ठीक है। गहरी जुताई, रसायनो और उर्वरको के प्रयोग से वे लोग पैदावार की मात्रा बढ़ाने में समर्थ हो गये है, किन्तु वे भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में समर्थ नहीं हुए है जब कि शताब्दियो तक खेती करने के बाद भी हम अपने उर्वरापन को बनाये रख सके हैं। यह ऐसी समस्या है जिसे हल करना आवश्यक है। मैं आप से कहूँगा कि आप इसे परम्परागत दृष्टिकोण से हल करें। अर्थात् आप इस बात का पता चलायें कि प्राचीन कृषि-प्रणाली में कौनसी ऐसी बात है जो इतनी हद तक उर्वरता को बनाये रखने में सफल हुई है।

अभी-अभी मैं आपके योगालयों को देख रहा था। वहाँ मुझे बताया गया है कि फसल में हेरफेर और विभिन्न प्रकार की फसलो के अभिमिश्रण से किस प्रकार उर्वरता को बनाये रखा जाता है। गाँवो की कृषि-प्रणाली की साधारण-सी बात है कि फसलें हेरफेर करके बोई जाती है। साथ ही वे एक समय में एक ही फसल नही

वाते। वे एक से अधिक फसल एक साथ वोते है। पहले मकई की फसल होती है। उसके वाद उडद और तिल, फिर अरहर और उसके वाद रूई की फसल होती है। मे रूई की फसल की वात तो भूल ही गया था। जून के दूसरे पखवाड़े में और जुलाई के पहले हफ्ते मे रूई वोई जाती है। उडद सितम्वर में वोई जाती है, अरहर मार्च में और रूई फिर आगामी जून मास में। किन्तु यह एक ही जगह में वोई जाती है और इससे फल यह होता है कि भूमि म वह द्रव्य लौट आता है जो कोई एक फसल उससे निकालती है। गेहूँ अक्टूवर में वोया जाता है। गेहूँ और जौ एक ही भूमि में वोये जा सकते है। वे एक साथ ही वोये जा सकते है। इसी प्रकार गेहूँ के साथ चना वोया जा सकता है, क्योकि दोनो की फसल एक ही समय में होती है। इस वात का पता चलाना जरूरी है कि फसलो के अभिमिश्रण और हेरफेर से भूमि और पैदावार पर क्या असर पडता है? यदि विभिन्न प्रकार की फसलों को मिलाकर वोया जाता है और एक की पैदावार ५ मन होती है तो उसे कम नही समझना चाहिए। यदि मकई ५ मन, उडद ३ मन, तिल २ मन और अरहर ५ मन फी एकड़ हो तो सवको जोड़कर गिनना चाहिए। इस प्रकार यह प्रकट होगा कि फसल अच्छी हुई है। किन्तु मै यह चाहता हूँ कि आप इस वात पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, गांव वालो से यह पता चलायें, हर छोटी वात का हिसाव लगाकर उसको अपनी वैज्ञानिक जानकारी और अनुभव से परीक्षा करें और पैदावार वढाने में सहायक हो। मुझे आशा है कि आप काम का वह ढग अपनायेंगे जिसे गांव का आदमी भी मंजूर करेगा। यदि आप सर्वथा नये ढग को अपनायेंगे तो गांव वालों को उसको अपनाने में पर्याप्त समय लगेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि आप इस समस्या पर खेती के वर्तमान ढंग को ध्यान में रखकर विचार करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि आपको नये ढंगो का वहिष्कार करना है। इसके विपरीत मै तो यह समझता हूँ कि जव अन्न की कमी हो तो अन्न की पैदावार वढ़ाने के किसी भी तरीके को अपनाया जा सकता है। यह आप वैज्ञानिको का काम है कि यह वतायें कि यह वात कैसे की जा सकती है। मैंने आपके सामने यह सव सुझाव केवल एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से रखे है जो यद्यपि विशेषज्ञ तो नहीं है किन्तु जिसे खेती का थोड़ा-वहुत तजुर्वा है। मंने यह किसी ऐसे व्यक्ति की तरह नहीं रखा है जो वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर इस वारे में कोई निर्णय दे सकता हो। अन्न के लिए हम दूसरे देशों पर निर्भर नहीं कर सकते। आप लोगो का यह काम है कि आप अपने ज्ञान को ऐसी शक्ति वना दें जो साधारण जनों द्वारा आसानी से समझी जा सके और जिसे वे केवल समझें ही नहीं वरन् काम में भी ला सकें।

३

भारत में विज्ञान की प्रगति[1]

मै वैज्ञानिक नही हूँ और इस वात में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि मैं यह कहूँ कि इन प्रयोगालयो में आप जो कुछ क्रियायें कर रहे है उनके वारे में मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। किन्तु साधारण मनुष्य के नाते मैं इन क्रियाओ के परिणामों में गहरी दिलचस्पी रखता हूँ। सरकार वैज्ञानिक गवेषणा में वडी दिलचस्पी लेती रही है। यद्यपि पिछले वर्षों में विभिन्न विषयो में काम करने के लिए हमने सारे देश भर में लगभग वारह प्रयोगालय स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली है, तथापि इस संस्था को ही यह सम्मान प्राप्त है कि यह लगभग चालीस या उससे भी अधिक वर्ष पहले स्थापित हो गई थी। यह और भी वधाई की वात है कि इस सस्था की सस्थापक सरकार न होकर एक उद्योगपति थे जिन्होने अपनी दूरदर्शिता, देशभक्ति और व्यापार-कुशलता द्वारा देश को न केवल इस्पात का वडा कारखाना ही प्रदान किया, वरन अन्य कई कारखाने भी खोले जो टाटाओं के अधीन काम करके फूल-फल रहे है। यह संस्था वडा आश्चर्यजनक कार्य करती रही है। इसका शिलान्यास करके जो महान् नेता जमशेद जी नौशेरवाँ जी टाटा ने की थी उसे देश को याद रखना चाहिए।

जिस काम को आप यहाँ कर रहे है उससे देश को और सभवत सारे मानव-समाज को वहुत लाभ होगा। आप ऐसी गवेषणा के कार्य में लगे हुए है जिससे अपने देश में ही पैदा की हुई औषधियो द्वारा हम कुछ रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ हो जायेंगे और वह इतनी कम कीमत में कर सकेंगे कि वह वाहर से आयात की जाने वाली औषधियो की कीमत से कहीं कम होगी। आप ऐसा यन्त्र वनाने में लगे हुए है जो गाँवो में भी आसानी से मिलने वाले ईंधन का प्रयोग करके काम कर सकता है। हमारे यहाँ सारे कृषि सम्वन्धी काम में जो कठिनाइयाँ है उनमें से एक पानी की कमी है और यदि हम सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी का प्रवन्ध कर सकें तो मुझे यकीन है कि देश की अन्न की समस्या वहुत आसानी से सुलझ जायगी। मेरी अपनी धारणा है कि देश के अन्दर ऐसे वड़े-वड़े क्षेत्र है जिन्हे जोता जा सकता है और जिनमें यदि

---

१ भाषण अखिल भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान, वगलौर शक्ति-इंजीनियरी-विभाग तथा द्रुशक्मता इजीनियरी-प्रयोगालय का उद्घाटन और जलविद्या-प्रयोगालय का शिलान्यास, १० अगस्त, १९५१।

पानी मिल सके तो हर प्रकार की चीज पैदा की जा सकती है। राजपूताने में जहां आपको सिवाय रेत और सूखी भूमि के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता, वहां जो कुछ मैंने देखा है उसके अनुभव पर मैं यह बात कहता हूँ कि वहां भी जब पानी का प्रबन्ध हो गया है तो रेतीली भूमि भी उसी प्रकार हरियाली हो गई है जैसी कि देश के किसी भी अन्य भाग की। हमें उन जिलों का भी तजुर्बा है जो अब पश्चिमी पंजाब में हैं और जिनकी अवस्था एक समय न्यूनाधिक उसी प्रकार की थी जैसी कि अब राजपूताने की है। अब वह जिले पंजाब के लिए अन्न-भण्डार बन गये हैं और वे हमें देश के दूसरे भागों के लिए भी काफी अन्न दिया करते हैं। अतः यदि आप कोई ऐसा यन्त्र बनाने में कामयाब हो जायें जो गांवों में मिलने वाले ईंधन से चल सके तो मैं कहूँगा कि कृषि की मदद के लिए आपने बड़ा भारी काम कर दिया है।

किन्तु आप केवल इसी बात में ही तो नहीं लगे हुए हैं। मुझे बताया गया है कि विभिन्न प्रकार के खाद्यों के सम्बन्ध में भी आप प्रयोग कर रहे हैं और यदि मिल सके तो—मैं यद्यपि गाय का ही दूध पसन्द करूंगा, किन्तु तो भी आज के कमी के युग में आप गाय के दूध के स्थान पर कोई अन्य प्रकार की वस्तु दे सकें तो वह भी आपकी महान् सेवा होगी और मुझे इस बात को सुनकर खुशी है कि आप ऐसी चीज पैदा करने में बहुत-कुछ हद तक कामयाब हो रहे हैं जो यद्यपि गाय के दूध के समान बिलकुल अच्छी तो नहीं है तो भी यह लगभग गाय के दूध-जैसी ही है और पानी मिले गाय के दूध से अगर हम इसकी तुलना करें, और वैसा ही पानी मिला दूध आजकल मिलता है, तो हमें पता चलेगा कि यह उससे कहीं बेहतर है। साधारण जन की हैसियत से मैं इसी प्रकार के परिणामों में दिलचस्पी लेता हूँ।

यन्त्रों, हवाई जहाजों और इसी प्रकार की अन्य चीजों के सम्बन्ध में भी आप प्रयोग और गवेषणा कर रहे हैं। जैसा कि मैंने कहा है मैं इन बातों के बारे में कुछ ज्यादा नहीं समझता हूं, किन्तु जिस दिन मैं अन्यत्र से आने वाले यन्त्रों के मुकाबले में आपके यन्त्रों को बेहतर काम करते देखूंगा उस दिन मैं आपके काम की तारीफ करूंगा। मुझे यक़ीन है कि मुझे उस दिन के लिए ज्यादा इन्तजार न करना पड़ेगा, जब कि आप मुझे इस बारे में सन्तोष प्रदान कर सकेंगे।

वैज्ञानिक जानकारी के लाभ के सम्बन्ध में मैं साधारण जन के नाते यह कहता हूँ कि मैं उसके परिणामों और फलों में ही दिलचस्पी लेता हूं। सारे संसार में इस क्षेत्र में इतनी भारी प्रगति की जा रही है कि भारत जैसे देश के लिए यह बहुत कठिन हो जाता है कि जो तरक़्क़ी की जा रही है उसके अनुकूल ही वह आगे भी बढ़े। अभी अगले दिन की बात है कि दिल्ली में हमें एक अनोखी बात दिखाई दी। वास्तव में वह कोई ऐसा जहाज था जो दिल्ली के ऊपर उड़ रहा था, किन्तु जिसके बारे में सब

लोगो को उत्सुकता पैदा हुई और इनमें मै भी सम्मिलित था। मैने सोचा कि इस बारे में सबसे ठीक बात यह होगी कि मै इसका उस व्यक्ति से पता चलाऊँ जिसके सम्बन्ध में यह ख्याल किया जाता है कि वह इन मामलो में सबसे ज्यादा योग्य है। इसलिए मैने हवाई बेडे के सेनापति से पूछा और उन्होंने मुझे बताया कि यह एक हवाई जहाज था जो हिन्दुस्तान पर उड़ रहा था, किन्तु जिसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह कहाँ से आया और कहाँ गया। जो कुछ कहा जा सकता था वह केवल इतना ही था कि वह हवाई जहाज है और जब मैने यह पूछा कि किसी दुश्मन के हवाई जहाज को इस प्रकार यहाँ आने से रोका जा सकता है या नहीं तो उन्होने उत्तर दिया कि सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह सम्भव है, किन्तु इस प्रयोजन के लिए आवश्यक रडार यन्त्र इतना कीमती होगा कि भारत के लिए उसे खरीदना सम्भव न होगा। इससे प्रकट है कि वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भारत को किन कठिनाइयो का सामना करना है। सम्भवतः अन्य देशो को भी ऐसी कठिनाइयो का मुकाबला करना पडता है। हमारी अपेक्षा वे लोग तो इस काम में बहुत पहले से लगे रहे है। मुझे वह दिन याद है जब हमारे विद्यालयो में मुश्किल से ही कहीं विज्ञान पढाया जाता था। कह तो मै भी सकता हूँ कि मैने कुछ विज्ञान पढा है, किन्तु आजकल कोई भी वैज्ञानिक यही कहेगा कि वह विज्ञान तो कुछ विज्ञान ही नहीं था और यह बात अभी बिलकुल पचास वर्ष पहले तक थी। तब से इस देश में वैज्ञानिक अध्ययन की बडी तीव्र प्रगति हुई है। अब हमारे सब विज्ञान पढ़ाने वाले विद्यालयो में विद्यार्थियो के लिए वैज्ञानिक प्रयोगशालाये ही नहीं है, वरन् गवेषणा के काम में लगे हुए हमारे यहाँ अनेक आचार्य भी है और उनमें कुछ की कृतियो को तो संसार भर में बडे महत्त्व का मान लिया गया है। हमने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की है, किन्तु हमें न केवल कुछ ख्यातनामा वैज्ञानिको की ही आवश्यकता है, वरन् हमें इस बात की भी आवश्यकता है कि हमारी जनता के बहुत से लोगो में विज्ञान फैले। इस प्रकार की संस्था इस बारे में काफी काम कर सकती है, क्योकि जिन शिल्पिक ज्ञान रखने वाले अनेक व्यक्तियो की हमें आवश्यकता है उनको यह दे सकती है। हमें नदी-योजना-सम्बन्धी कल-विद्युत कारखाने के जरिये देश में बिजली के यन्त्रो के विकास की बड़ी आशा है। मै यह नहीं जानता कि जिन कारखानों को बनाना हमने शुरू कर दिया है या जिनके बनाने का हमारा ख्याल है या जिनके बारे में जाँच हो रही है उनको वास्तव में बनाकर पूरा कर देना भी सम्भव होगा या नहीं। किन्तु इसमें कोई शका नहीं है कि जब इनमें से कुछ बनकर पूरे हो गये होगे और उनमें काम चालू हो गया होगा, तब हमारे शक्ति-साधनों में बहुत अभिवृद्धि हो गई होगी, और हमारे शक्ति-साधनो के बढ़ जाने के कारण जिन विभिन्न वस्तुओ की हमें आवश्यकता है उनकी पैदावार भी काफी बढ गई होगी। अत जिन

यन्त्रो की हमें आवश्यकता है, उनके अतिरिक्त हमें इन कारखानों को, जिन्हें कि हम स्थापित करेंगे, चलाने के लिए बड़ी तादाद में शिल्पिक योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की जरूरत होगी और इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस के समान ही संस्थाएँ इस प्रकार के कार्यकर्त्ताओ को हमें दे सकती हैं। उन लोगों के लिए पर्याप्त काम होगा और मुझे यकीन है कि इन सस्थाओ में मे सफलता प्राप्त करने के पश्चात् निकलने वाला कोई व्यक्ति वेरोजगार नहीं रहेगा।

हमारे विश्वविद्यालय आजकल ऐसे स्नातक निकाल रहे हैं जो यह नहीं जानते कि डिग्री लेने के वाद वे अपनी डिग्रियों का या अपने जीवन का क्या करें, किन्तु इस प्रकार की शिल्पिक संस्थाओ की यह अच्छाई है कि जो विद्यार्थी इनसे निकलेंगे उनके पास वह योग्यता होगी जिससे वे तुरन्त लाभ उठा सकेंगे और जिसके लिए देश में पहले से ही काफी माँग है। अतः साधारण व्यक्ति के नाते ही मैं इन सब प्रयोगालयों और सस्थाओ में काफी दिलचस्पी रखता हूँ और इनसे अपना सम्बन्ध होना, चाहे फिर वह सम्बन्ध नाम के लिए ही क्यो न हो, मैं अपना भारी सौभाग्य समझता हूँ।

४

सांख्यिकी-शास्त्र का महत्त्व[1]

भारत में आपका हार्दिक स्वागत करने में मुझे बडी प्रसन्नता है। मुझे इस बात का हर्ष है कि अन्तर्राष्ट्रीय साख्यिकी सम्मेलन के वर्तमान अधिवेशन के हमारी राजधानी में होने से आप में से अनेकों को भारत की प्रथम बार यात्रा करने का अवसर मिला है। मुझे आशा है कि आप इस यात्रा से हमारे देश और हमारी जनता से परिचित हो जायेंगे और यहां से लौटते समय ऐसी स्मृति लेकर जायेंगे जो हमारे देशों में पारस्परिक मेल बढ़ाने में सहायक होगी।

ससार की समस्त जातियो में पारस्परिक शान्ति, मैत्री और सहयोग के आदर्श को भारत ने सर्वदा माना और इनकी प्राप्ति के लिए उसने व्यावहारिक रूप से कार्य किया। अत. ससार के सब देशो के जिन प्रमुख साख्यको और अर्थशास्त्रियो ने पिछले साठ वर्षों में इस प्रकार के रचनात्मक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पैदा करने के लिए सम्मिलित प्रयास किया है, उन सबका इस सम्मेलन में स्वागत करने मे मुझे बडी प्रसन्नता है। अपने प्रकाशित लेखो तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक पत्रों द्वारा वैज्ञानिक लोग साधारणतः एक दूसरे के विचारो, सिद्धान्तो, प्रयोगो और सफलताओं से परिचित रहते है। किन्तु इस प्रकार के सम्मेलन में मिलने से ही जो वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है और बनाये रखा जा सकता है वह उनके पारस्परिक लाभ के लिए भी बडा महत्त्वपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त नये विचारो और तरीको के विकास के लिए भी वैज्ञानिको का सम्मेलन सर्वदा बहुत स्फूर्तिप्रद रहता है। मुझे आशा है कि शान्तिमय और समृद्ध जगत् के निर्माण की सुदृढ नींव के लिए जो सही आर्थिक नीति और कार्यक्रम आवश्यक है उसको तय करने के लिए साख्यिकी-क्षेत्र में जो नये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते है, उनका विकास इस सम्मेलन के प्रयासो के फलस्वरूप होगा।

भारत सरकार साख्यिकी तरीको के विकास में बहुत दिलचस्पी रखती है और पिछले दिनो में उसने देश में सुसज्जित सस्थाओ की स्थापना को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया है। वह इस बात को जानती है कि वर्तमान युग के आर्थिक और सामाजिक

---

१ भाषण अन्तर्राष्ट्रीय साख्यिकी प्रतिष्ठान के २७वें अधिवेशन का उद्घाटन, ५ दिसम्बर, १९५१।

जीवन की वढी हुई जटिलताओं के कारण तथा सरकार के कार्यक्षेत्र के वढ़ जाने के कारण सरकार के लिए अव यह सम्भव नहीं है कि वह पर्याप्त और पूरी सांख्यिकी सामग्री के विना अपनी नीतियो का निर्धारण कर सके। इतिहास में पहली वार भारत एकछत्र राज्य वना है। उसका सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र १२·२ लाख वर्ग मील अथवा ७८ करोड एकड है, और पिछली जनगणना के अनुसार उसकी जनसंख्या ३६ करोड़ १० लाख से कुछ ज्यादा है। अतः चीन में छ. एकड़, अमरीका में तेरह एकड और सोवियट संघ में २८ एकड प्रति व्यक्ति के मुक़ावले में हमारे यहाँ प्रति व्यक्ति के हिस्से में २·१६ एकड़ भूमि पड़ती है। जो आँकडे प्राप्त है उनसे पता चलता है कि खेती में कुल २६ करोड़ एकड भूमि लगी हुई है और हिसाव से तीन-चौथाई एकड़ ही फी आदमी के हिस्से में आती है। हमारे यहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति-साधन है, किन्तु उनके विकास और काम में लाने का तो प्रश्न ही क्या, अभी तक उन सवकी जाँच तक नहीं की गई है और न उनका पूरा पता चलाया गया है। दूसरे देशो में से अनेकों की अपेक्षा हमारे देशवासियो का जीवन-स्तर वहुत नीचे है। अतः हमें अनेकानेक समस्याओ का मुकावला करना है और उन्हें सुलझाना है। हमारी सरकार आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यक्रम को हाथ में ले रही है। उसका चित्र पंचवर्षीय योजना है जो कि हमारे सम्पत्ति-साधनो की वास्तविक जानकारी पर आधृत है। योजना को और भी व्यावहारिक वनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमें राष्ट्रीय जीवन की सव वातो के सम्वन्ध में सही और विश्वसनीय जानकारी प्राप्त हो जिससे कि हम अपनी आवश्यकताओ और सम्पत्ति-साधनो का सही-सही अन्दाजा लगा सकें। सरकार को सही वातें मालूम होनी चाहिएँ जिससे वह अतीत की तुलना वर्तमान से कर सके और भविष्य की सम्भावनाओ का कुछ अन्दाजा लगा सके। सही वातो की जानकारी न होने पर कोई भी सरकार सफलतापूर्वक उन्नति के लिए पूरी योजना नहीं वना सकती।

यद्यपि वैज्ञानिक और शिल्पिक विकास के कारण पृथ्वी के सुदूर भाग एक-दूसरे के वहुत निकट हो गये है, तथापि जगत् की सही वातो के वारे में अभी लोगो में जानकारी की वहुत कमी है। अनेक देशो के सम्वन्ध मे सही जानकारी का न होना ही अन्तर्राष्ट्रीय मेल के वढ़ने में मुख्य रुकावट है। यदि हमें ऐसे उदारचित्त विश्व-समाज का निर्माण करना है, जिसमें एक-दूसरे की समस्याओ को समझकर और उनकी महत्ता को पहचानकर समस्त मानव-जाति के लाभ के लिए लोग सम्मिलित प्रयास करें, तो यह आवश्यक है कि उनके पास निष्पक्षता से एकत्रित और सही आँकड़े हो तथा विचारों के स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय करने की पूरी सुविधा हो।

यह विशेष महत्त्व की वात है कि अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी प्रतिष्ठान का यह

अधिवेशन एशियाई देश में हो रहा है। जैसा आप जानते है एशिया के देशों में विकास और नीति का निर्धारण करने में सांख्यिकी का वैसा प्रयोग नहीं किया गया है जैसा कि संसार के अन्य भागो में हुआ है। किन्तु एशिया के सब देशो में आर्थिक विकास के लिए बनाई गई हाल की योजनाओ को यदि हम ध्यान में रखें तो यह प्रकट है कि सही और विश्वसनीय सांख्यिकी सामग्री को इकट्ठा करना बहुत महत्त्व की बात हो गई है। मुझे आशा है कि एशियाई देश में इस सम्मेलन की बैठक होने का परिणाम यह होगा कि यहाँ ऐसी सुसगठित सांख्यिकी व्यवस्था का विकास हो जायगा जो एशिया और समस्त पृथ्वी भर के लोगो के आर्थिक और सामाजिक विकास का सुदृढ आधार निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सके।

जब भारत सरकार ने इस सम्मेलन के लिए निमन्त्रण दिया था तब हमारे प्रधान मन्त्री ने यह कहा था कि साख्यिकी के और अधिक अध्ययन तथा प्रशासन और उद्योग-धन्धो में साख्यिकी रीतियो का और अधिक प्रयोग करने और उनको प्रोत्साहन देने में हमें बडी गहरी दिलचस्पी है। अन्तर्राष्ट्रीय साख्यिकी प्रतिष्ठान के अधिवेशन के यहाँ होने से इन आगे के अध्ययनो को आवश्यक प्रोत्साहन मिलेगा तथा अनेक देशो के अनेक ख्यातनामा साख्यको की उपस्थिति से हमें न केवल बडी प्रसन्नता होगी, वरन् हमें काफी लाभ भी होगा। अतः हमें आशा है कि आप लोगो के विचार-विमर्श से, और जो सम्पर्क हमारे साख्यक और विशेषज्ञ आज स्थापित कर रहे है उससे, संसार भर के लाभ के लिए साख्यिकी विज्ञान की उन्नति के अतिरिक्त हमें अपनी निजी कठिनाइयो के सुलझाने मे भी पर्याप्त सहायता मिलेगी।

चतुर्थ खण्ड

प्रकीर्ण

१

आज के विद्यार्थी के अधिकार और कर्तव्य

२

बुनियादी तालीम

३

लोक-विद्यालय : नये दायित्व और नये आदर्श

४

शिक्षा-प्रसार और हिन्दी

५

विद्यार्थी और राजनीति

१

आज के विद्यार्थी के अधिकार और कर्तव्य[1]

पहले मैं आपका इस बात के लिए शुक्रिया अदा करता हूँ कि आपने इतनी मुहब्बत और प्रेम के साथ मेरा स्वागत किया। अलीगढ यूनिवर्सिटी में इस तरह की यूनियन की एक खास जगह है और खास करके इस यूनिवर्सिटी में जिसने इतना काम किया है और जिसने, जैसा आपने कहा, सिर्फ तालीम का ही काम न करके हमारी तहज़ीब और तमद्दुन में भी इतना हिस्सा लिया है। यहाँ ऐसी यूनियन का होना निहायत जरूरी और लाज़िमी है। मुझे बताया गया है कि यह यूनियन किस तरह काम करती रही है और आज भी किस प्रकार काम कर रही है।

आपने यूनिवर्सिटी की जरूरतो को और यूनियन की जरूरतो को बहुत तरह से मेरे सामने रखा है। मै सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि इस वक्त हम सबको यह समझ लेना है कि अब कोई यह नहीं कह सकता कि गवर्नमेण्ट उसकी नहीं है और गवर्नमेण्ट उससे अलग कोई चीज है। आप जब मुझ से कहते हैं कि गवर्नमेण्ट से यह करा दीजिए, वह करा दीजिए, तो मैं आपसे कहूँगा कि आप ही करा लीजिए, क्योंकि मै इस बात को मानता हूँ कि अब गवर्नमेण्ट आपकी है और जिस तरह से काम चलाना चाहते है, जो काम उससे लेना चाहते है, उसको आप उससे ले सकते है, करा सकते है। अगर सच्ची जम्हूरियत हमारे मुल्क के अन्दर कायम है तो यह हरएक आदमी समझे कि उसको क्या करना है और कैसे चलना है। हमारे सविधान के जो उसूल है उन से हरएक आदमी को यह हक है कि लोग मिल-जुलकर अच्छे-से-अच्छे आदमी को अपना नुमाइन्दा बनायें जो मुल्क के फ़ायदे की बात सोचे और जिस पर लोगो का भरोसा हो। लोग जैसा चाहेंगे वह जरूर करेंगे, मगर नुमाइन्दे बेहतरीन आदमी ही चुने जाने चाहिएँ। बेहतरीन आदमी वही समझे जायेंगे जिनके दिल मे यह ख्याल है कि वे किसी एक खास गिरोह के, किसी खास चुने हुए सूबे के और किसी खास तबके के नहीं हैं, बल्कि मुल्क के सब सूबो और सब हिस्सो के नुमाइन्दे है। जो सब के फायदे को अपना समझते है, वे ही मुल्क के बेहतरीन आदमी है। अब जो कुछ हमारे मुल्क का काम बिगड़ेगा या बनेगा, वह हमारे आदमियो से ही बिगड़ेगा और बनेगा। इसमें जितने यूनिवर्सिटी के लोग हैं, उनकी खास मदद की जरूरत है जिससे अच्छे-से-अच्छे

---

१. भाषण - अलीगढ यूनिवर्सिटी स्टूडेण्ट्स यूनियन, ८ दिसम्बर, १९५१।

आदमी आयें और अच्छे-से-अच्छे काम करें।

मैं मानता हूँ कि देश में जितनी तालीम चाहिए उतनी आज नहीं हो रही है। मगर जब सब लोगों की ख्वाहिश होगी, तभी यह चीज हो सकेगी। हमारे यहां के युवकों को समझ लेना चाहिए कि किसी खास मकसद को कैसे पूरा किया जाता है। अब उनका वक़्त आ रहा है। पहले की पीढ़ी के हम लोगों का वक़्त करीब-करीब खत्म हो चुका है और अब चलने का वक़्त आ गया है। अब आपके हाथ में सारी बागडोर आने वाली है। आप अपनी जवाबदेही को समझें और उसको पूरा करें। अब तो लोगों को अपने मन के अरमानों को पूरा करने की पूरी सहूलियत है। जम्हूरियत की सबसे बड़ी निशानी यही होती है कि जो नुमाइन्दे होते हैं वे लोगों के नुमाइन्दे होते हैं। अगर लोगों के नुमाइन्दे अच्छे लोग होंगे तो जम्हूरियत अच्छी होगी। अगर मुल्क के लोग अच्छे हों तो नुमाइन्दे अच्छे होते हैं। अगर नुमाइन्दे बुरे होते हैं तो मुल्क के लोग अच्छे नहीं कहे जा सकते। मैं तो यही कहूँगा कि हम में से हरएक को यह सोचना चाहिए कि हरएक आदमी को हम ऐसा सुधारें और ऐसा बनायें कि वह अच्छे से अच्छा आदमी हो सके, सच्ची खिदमत करने के लिए तैयार हो, अपने को हमेशा कुर्बान करने के लिए तैयार हो और दूसरों की खिदमत करने के लिए तैयार रहे। अगर इस तरह के लोग मुल्क में हो जायेंगे तो किसी किस्म की दिक़्क़त नहीं रह जायगी और कोई मुसीबत नहीं रह जायगी। लेकिन हमारे मुल्क की यह बदकिस्मती रही है और आज से नहीं बहुत जमाने से रही है कि हम एक दूसरे पर अविश्वास करते रहे, दूसरों की चीजों को हड़पने की कोशिश करते रहे और अपने स्वार्थ के लिए मुल्क के या और लोगों के बड़े कामों को नाचीज समझते रहे। यही वजह है कि हमें दूसरों की गुलामी करनी पड़ी। इंगलेंड की हिस्टरी आप जानते हैं। आप यह भी जानते हैं कि किस तरह से अंगरेज यहाँ आये, किस तरह उन्होंने यहाँ अपनी सल्तनत कायम की और कितने दिनों तक शान से उन्होंने यहाँ राज्य किया। इन दोनों तवारीखों का मुकाबला करके हम फर्क देख सकते हैं। आपको ऐसा कोई अंगरेज नहीं मिलेगा जो गवर्नर जनरल की हैसियत से आया हो और जिसने इंगलेंड के हित को छोड़कर अपने लिए राज्य कायम करने की कोशिश की हो। लेकिन हमारा इतिहास यही है कि यदि किसी को किसी सूबे में भेजा गया तो उसने वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया। यह कमी इस मुल्क की तारीख में हम देखते हैं, पर अब जरूरत इस चीज की है कि हम मुल्क के हित को सब से ऊपर रखें।

आज दुनिया छोटी हो गई है। इसलिए आज कहीं आने-जाने में दिक़्क़त नहीं रही। आप आज बात-की-बात में कहीं भी जा सकते हैं और कहीं की भी खबर ले सकते हैं। ऐसी हालत में यदि छोटे-छोटे राज्य कहीं कायम भी किये जायें तो जिन्दा

नहीं रह सकते। अब तो सारे मुल्क को हम एक बनाये रख सकें तभी उसके लिए हम दुनिया में कोई जगह बना सकते हैं। अगर छोटे-छोटे टुकड़ों को लेकर हम कोशिश करेंगे तो हम नीचे चले आयेंगे। इसलिए हम में से हरएक को यह इरादा कर लेना चाहिए और पक्का इरादा करना चाहिए कि वह सब लोगों के साथ मिलकर इस लगन से मुल्क की तरक्की में लग जायगा कि दुनिया के सामने यह कह सके कि हिन्दुस्तान एक बड़ा मुल्क है।

आप सबको चाहिए कि अपने जी में कोई शक व शुबहा न रखें। जब तक आप खुद ही अपने हक को छोड़ देने के लिए तैयार न हों, तब तक आपका हक कोई नहीं छीन सकेगा। अगर आप अपने हक पर कायम रहेंगे और दूसरों के हक को लेना नहीं चाहेंगे तो आपका भी हक कोई नहीं छीन सकेगा। यह जरूरी है कि हम में हरएक आदमी अपना हक समझे और अपना फर्ज भी समझे, क्योंकि बिना फर्ज के हक नहीं होता। मैं चाहता हूँ कि आप इस बात को समझें और अपना काम करते जायें।

२

बुनियादी तालीम[1]

बहुत दिनों के बाद आज विद्यापीठ में आ सका, इसकी मुझे बडी खुशी है। अहमदाबाद आकर विद्यापीठ में बिना आये और बिना आप लोगो से भेंट किये चला जाना भी एक ऐसा काम होता जिसको सहन करना आसान नहीं होता। इसलिए यह तो एक प्रकार से निश्चित ही था कि किसी-न-किसी समय यहाँ आऊँगा जिससे आप सभी बहनो और भाइयो से भेंट हो सके। आपने यह सच कहा है कि विद्यापीठ और राष्ट्रीय शिक्षा के साथ मेरा सम्बन्ध तभी से है जब से यह काम पूज्य बापू ने शुरू किया था। जो कुछ मुझ से थोड़ा-बहुत अपने प्रान्त के अन्दर हो सका, मैंने करने की कोशिश की लेकिन वातावरण अनुकूल नहीं रहा। आहिस्ता-आहिस्ता काम ढीला पड़ गया और उसका जो रूप पहले था वह बदल गया। मगर आपने इसे अभी तक क़ायम रखा है और उत्साह के साथ चलते रहे हैं, इसके लिए मैं आप सबको बधाई देता हूँ।

मेरा विश्वास है कि अब शिक्षा-व्यवस्था में सुधार होना चाहिए। लेकिन कोई गवर्नमेण्ट हो—वह कोई नया क़दम नहीं उठाता, क्योंकि बहुत सी बातों पर विचार करना पड़ता है। केवल प्रयोग करने के लिए वह किसी काम पर न तो पैसा खर्च करना चाहती है और न उसमें अपने आदमियो को लगाना चाहती है। प्रयोग का काम तो इस प्रकार की गैर-सरकारी संस्थाएँ ही कर सकती है। यदि राष्ट्रीय विद्यापीठ ऐसे प्रयोग करता रहे और यदि उनमें उसको कुछ सफलता मिले और किसी-न-किसी समय वह मिलेगी ही, और वह ऐसी सफलता हो जिससे यह स्पष्ट हो कि उस प्रयोग को राष्ट्रीय पैमाने पर करने से देश का हित होगा तो सरकार उसे स्वीकार करेगी, क्योंकि आजकल तो सरकार अपनी है और जनता की इच्छा के अनुकूल चलती है। जिस समय असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ था उस समय महात्मा जी ने राष्ट्रीय शिक्षा की बात उठाई थी। उनका विचार था कि सबसे पहले बुनियादी तालीम का प्रचार होना चाहिए। उनको जब समय मिला तो उसे कार्यरूप देकर उन्होंने उसे चलाना भी आरम्भ कर दिया और कुछ दिनो के बाद जब १९३७-३८ में कांग्रेस के लोग मन्त्री बने तो उन्होंने नई तालीम की योजना पर बहुत जोर दिया। उन्होने

---

१ भाषण . गुजरात विद्यापीठ के कार्यकर्त्ताओ के बीच, १८ अक्तूबर, १९५०।

यहाँ तक कहा कि इसी के द्वारा सारे देश की शक्ल बदली जाय। यह आपने अच्छा किया कि इस विद्यापीठ में नयी तालीम की व्यवस्था के अनुकूल आप काम चला रहे हैं।

मेरा विश्वास है कि बुनियादी तालीम एक ऐसी चीज है कि इसके जरिये देश तरक्की करेगा और शिक्षा का प्रचार होगा। इसमें सन्देह नहीं कि बुनियादी तालीम के जरिये शिक्षा का प्रचार बहुत बढ़ जायगा। इसके साथ ही इसके द्वारा एक ऐसा वर्ग तैयार होगा और ऐसे नागरिक तैयार होंगे जो आजकल के नागरिकों से बहुत बातों में अच्छे निकलेंगे। बौद्धिक शिक्षा ही नहीं, उसके साथ-साथ विद्यार्थियों को जो पुस्तकीय ज्ञान मिलेगा वह भी किसी काम के जरिये से ही मिलेगा। उसे वे कुछ करके ही सीखेंगे, केवल पढ़कर और स्मरण-शक्ति द्वारा नहीं सीखेंगे। जो चीज अनुभव से सीखी जाती है उसका असर मनुष्य के हृदय पर बराबर बना रहता है। यही इस शिक्षा का महत्त्व है और इसी वजह से ऐसा कहा जाता है कि इसके प्रचार से देश की हालत बदल जायगी। आप सब जानते हैं कि राजनैतिक स्वराज्य से महात्मा जी को सन्तोष न होता था। वह अंगरेजों को यहाँ से इसलिए नहीं हटाना चाहते थे कि अंगरेजों की जगह पर देश के भाइयों को बैठायें और फिर यह लोग अंगरेजों की तरह ही काम करें और उन्हीं का सिलसिला जारी रखें। वह सारे समाज की रचना बदलना चाहते थे। इस प्रकार की शिक्षा से बच्चों को तैयार करके ही समाज की रचना बदली जा सकती है। जैसा परिवर्तन गान्धी जी करना चाहते थे। वैसा परिवर्तन आप नयी पद्धति से शिक्षा देकर ही कर सकेंगे। वह केवल इस देश में ही नहीं, वरन् ऐसे सभी देशों में, जहाँ यह सम्भव हो सके, नयी रचना करना चाहते थे और समाज के रूप को बदलना चाहते थे। समाज बच्चों से ही बदलता है, क्योंकि बच्चों को बचपन से जो कुछ सिखाया जाता है उसका स्मरण उन्हें सारे जीवन बना रहता है। आज देश का जैसा जीवन है, समाज की जो शक्ल है, वह उसी शिक्षा के कारण है जो हमें अब तक दी गई है। चाहे अपनी पुस्तकों की शिक्षा का प्रयोग लोग न भी करें, पर घर में मिली शिक्षा से लोग वे बातें सीख लेते हैं जिनके सहारे समाज का काम चलता है। इसलिए समाज के गठन को बदलने का यह सर्वाधिक प्रभावशाली तरीका है कि हम बच्चों को उस विचारधारा से प्लावित करें जिसकी प्रधानता हम चाहते हैं और जिससे उनके बड़े होने पर समाज का गठन खुद-ब-खुद बदल जाय। इसलिए भी बुनियादी तालीम पर बापू इतना जोर देते थे।

आप यह न समझें कि बुनियादी तालीम का जितना विकास हो सकता है और उसका जो सुदृढ़ रूप हो सकता है, वह पूर्णतया बन चुका है। नहीं, अभी हमें इस दिशा में काफी काम करना है। काम करते-करते नयी रोशनी मिलेगी, नयी बातें

१८५७

आयेंगी। जिस तरह बापू की जिन्दगी एक प्रकार से प्रयोग की ज़िन्दगी थी उसी तरह से बुनियादी तालीम की व्यवस्था में भी आप प्रयोग करते जायें। उसमें जो नयी बातें ज्ञात होगी उनको देश कबूल करेगा। ऐसे प्रयोगो के लिए इस प्रकार के शिक्षालयो की पहले से और भी ज्यादा आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि आप जो प्रयोग करें और उससे जो फल निकले, उसे आप गवर्नमेण्ट से मंजूर करवायें। अगर गवर्नमेण्ट को यह लगेगा कि उससे जनता का फ़ायदा होने वाला है तो वह उसे मजूर करेगी। स्पष्ट है कि इस दिशा में पहला कदम आपके जैसी संस्था ही उठा सकती है। इसलिए मैं यह नहीं मानता कि विद्यापीठो की जरूरत नहीं रही।

गुरुकुलो के सम्बन्ध में मैंने कहा था कि गवर्नमेण्ट के साथ उनका अब तक जो सम्बन्ध था वह आज की बदली हुई परिस्थितियो में बदल जाना चाहिए। गवर्नमेण्ट के साथ उस समय वे अपना सम्बन्ध रखना ही न चाहते थे। अगर वे गवर्नमेण्ट से अपना सम्बन्ध स्थापित करना भी चाहते तो सम्भवतः वह उसे मंजूर नहीं करती। पर अब स्थिति दूसरी है। अब तो गवर्नमेण्ट से उनका सीधा सम्बन्ध भी हो सकता है और उन्हे अपने काम में गवर्नमेण्ट से प्रोत्साहन भी मिल सकता है। गुरुकुल के सम्बन्ध में मैंने सुना था कि आज तक उन्होने गवर्नमेण्ट से न कभी कुछ मांगा और न गवर्नमेण्ट ने कभी कुछ दिया। उत्तर प्रदेश के गवर्नर मिस्टर हेलेट ने एक बार गुरुकुल को देखा था और कुछ देना भी चाहा था, मगर गुरुकुल ने उसे स्वीकार नहीं किया था। मगर जब मैं गया और उनकी तरफ से पूछकर मैंने गवर्नमेण्ट से सहायता दिलवाई तो उन्होने उसे स्वीकार कर लिया, क्योंकि हमारी गवर्नमेण्ट पहले की-सी गवर्नमेण्ट नहीं है। इसलिए मैं समझता हूँ कि इसी तरह गवर्नमेण्ट से विद्यापीठ का सम्बन्ध भी अब दूसरे ढंग का होना चाहिए। पर साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि आज भी विद्यापीठ को सर्वथा गवर्नमेण्ट पर निर्भर नहीं करना चाहिए। हमारी प्रवृत्ति ऐसी हो गई है कि हम सब चीजों के लिए गवर्नमेण्ट की तरफ देखते हैं। सम्भवतः लोग सोचते हैं कि चूंकि अब स्वराज्य हो गया है इसलिए अब तो यह सरकार का काम है कि सबके लिए कुछ करे और लोगो के खुद कुछ करने की जरूरत अब नहीं रह गई है। पर यह बात ठीक नहीं है। अब भी इस बात की जरूरत है। हम सब चीजो के लिए भरोसा करते रहेंगे तो हम गवर्नमेण्ट के क्रीत दास हो जायेंगे और गवर्नमेण्ट को अपने मातहत नहीं रख सकेंगे। लेकिन अगर हम स्वतन्त्र रहेंगे तो गवर्नमेण्ट पर अपना काबू रख सकेंगे और गवर्नमेण्ट से अपने मन के मुआफिक़ काम करा सकेंगे। हाँ, अगर गवर्नमेण्ट से सहायता मिले और गवर्नमेण्ट सहायता देना चाहे तो उसे लेने में उज्र नहीं होना चाहिए। पर साथ-साथ अपने पैरो पर हमेशा खड़ा रहना चाहिए जिससे आपकी स्वतन्त्रता बनी रहे

और जैसा आप चाहें काम कर सकें और अपने बल से गवर्नमेण्ट से करा सकें। मैं आशा करता हूँ कि यह संस्था, जो ऐसे शुद्ध और पवित्र हाथों से स्थापित की गई थी और जिसने इतने दिनों तक देश की सेवा की है, बनी रहेगी और आप इसे चलाते रहेंगे और यह दिन-दिन उन्नति कर देश का कल्याण करती रहेगी।

३

लोक-विद्यालय : नये दायित्व और नये आदर्श[1]

इतने सजग नवयुवको में अपने को पाकर आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यह स्फूर्तिदायक अवसर मुझे बहुधा प्राप्त नहीं होता कि मैं उन लोगो के सम्पर्क में आ सकूँ जिन पर भविष्य में हमारे देश को ज्योतिर्मय करने का भार होगा। स्वभावतः भविष्य के इन महावीरो से ऐसी कोई भेंट मुझे ऐसी लगती है मानो राजमन्दिर के प्रकोष्ठों में वाहर से स्वच्छ निर्मल वायु का झोका आ गया हो। ये मुझे मूर्तिमान पुनर्जीवन के समान लगते है। उस अतीत क पुनर्जीवन—जव मेरे लिए यह जगत् इतना नया, इतना ताजा और इतना आश्चर्यमय था—किन्तु इससे भी कहीं अधिक थे मेरे लिए भवितव्यता के अवतार हैं। इनके देदीप्यमान मुखो पर मुझे अपने देश और संसार का भावी स्वरूप प्रतिविम्वित दिखाई पड़ता है। इनका यौवन मेरे लिए अमर आश्वासन है कि उस समय भी जव हम, जिनका शास्त्रोक्त आयु-काल अव समाप्त हो रहा है, अपने विधाता के समक्ष अपने जीवन का हिसाव देने के लिए चले गये होंगे, तव वह आदर्श जिससे हमारा जीवन सार्थक और सफल वना था, सवके लिए सुरक्षित रहेगा।

चूँकि मेरी ऐसी भावना है, इसलिए मेरी यह आकांक्षा है कि इन लोगो को अपने महान् और गरिमामय काम के लिए ऐसी संस्थाओं में शिक्षा मिलनी चाहिए जिन्हे मानव-समाज में युवको के स्थान का सही-सही ज्ञान हो। इस संस्था के संस्थापक स्व० श्री एस० आर० दास ने अपने समय की परिस्थितियो में यह महसूस किया था कि भारत को अपने नवयुवको की समुचित शिक्षा के लिए लोक-विद्यालयो की आवश्यकता है और इसी विश्वास के आधार पर उन्होने इस संस्था की योजना तैयार की थी। उस दिन से संसार में और हमारे देश में ज्ञान और संस्थाओ के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियो के दवाव से इस वात की वड़े जोर से माँग हो कि हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था और पद्धतियो में परिवर्तन किया जाय। आपने इस वात का निर्देश किया है कि आजकल लोक-विद्यालयों की संस्था के विरुद्ध इंगलेंड में पर्याप्त आलोचना

---

१. भाषण : दून स्कूल का संस्थापक दिवस, देहरादून, २२ अक्तूबर, १९५०।

हो रही है। मेरा विचार है कि यदि समाज में लोक-विद्यालय का प्रभावशाली और कल्याणप्रद काम करना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह आलोचकों के दृष्टिकोण को यथावत् समझे और अपने सगठन में जो दोष मिलें उन्हें दूर करे। लोक-विद्यालय के विरुद्ध दूसरे देशो में किसी प्रकार की भी आलोचना क्यों न हो, हमारे देश में तो एक स्वयं-विदित आलोचना यह है कि यह पृथक्त्व की भावना को जन्म देता है। अर्थात् अपने विद्यार्थियो में यह बड़प्पन की वृत्ति पैदा करता है। हमारे देश के साधारण जन जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते है इसे उसके अनुकूल बनाकर यह दोष दूर किया जा सकता है। यह केवल सम्भव ही नहीं, वरन् लोक-विद्यालयो का आधारभूत तत्त्व भी है जिस पर वे ठहरे हुए है। यदि मैंने इसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझा है तो मै कह सकता हूँ कि लोक-विद्यालय का एक प्रमुख तत्त्व—वह तत्त्व जो इसे अन्य सब शिक्षण-संस्थाओ से पृथक् कर देता है—इसका सामूहिक जीवन है। साधारणतया शिक्षा-संस्थाओ को ऐसी पठन-पाठन की सस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं समझा जाता जिनमे बालकों को लिखने-पढ़ने और हिसाब करने की शिक्षा दी जाती है, किन्तु जिनका उनके पूर्ण व्यक्तित्व से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत लोक-विद्यालय के मूल में यह विचार है कि जीवन के कुछ विशिष्ट पहलुओ के सम्बन्ध में जानकारी के कुछ टुकड़ो को एकत्रित कर लेना ही शिक्षा नहीं है, वरन् उसका अर्थ यही है कि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ऐसा ढाला जाय कि उसे उच्च प्रकार के आचरण करने की सहज आदत पड़ जाय, कला और विज्ञान की महान् विभूतियो से परिचित होने के कारण उसकी बुद्धि समृद्ध हो जाय, प्रकोष्ठो के व्याख्यान-गृह तथा क्रीडा-क्षेत्र में मन और स्नायु के सघर्ष से उसकी प्रज्ञा प्रखर हो जाय, कठोर व्यायाम द्वारा वह बलवान् शरीर बना सके तथा अपने ही जैसे मानवों के साथ रहकर, कार्य करके और खेलकर आपस में एकता की भावना पैदा कर सके। दूसरे शब्दो में लोक-विद्यालय इस विचार पर खड़ा हुआ है कि सस्कृति का सबसे प्रबल साधन और स्रोत इतनी मात्रा मे पुस्तकें नहीं है जितनी में कि समुचित रूप से सगठित जीवन। मेरा विचार है कि इसकी यह प्रतिज्ञा 'एक सामूहिक जीवन ही सर्वोत्तम शिक्षक है' अत्यन्त मूल्यवान् विचार है। यह ऐसा विचार है जो मानव-जाति की भावी संस्कृति के क्षेत्र में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण काम करने वाला है। अत. मै यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आपकी सस्था के सदस्यगणो ने साक्षरता, ग्राम-सेवा और स्वयसेवकत्व की भावना के प्रसार के लिए कई सस्थाओ की स्थापना की है। किन्तु जहाँ ये सब कदम ठीक दिशा में उठाये गये है, वहाँ मै यह भी समझता हूँ कि देश में एक आदर्श लोक-विद्यालय बनाने के लिए कुछ और बातें करने की भी आवश्यकता है। मेरा विचार है कि यह परिवर्तन इस बात में है कि यह सस्था देश

के लोक-जीवन से पूरी तरह एकीकृत हो जाय। इस एकीकरण का अर्थ यह है कि यहां शिक्षा का माध्यम इस देश की जनता की भाषा अर्थात् हिन्दी ही हो। मै मानता हूँ कि आजकल ऐसा करने में कुछ महत्त्वपूर्ण कठिनाइयां है, पर इन कठिनाइयो पर शीघ्रातिशीघ्र विजय पाने के लिए इस संस्था को हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। कम-से-कम यहां के शिक्षको और विद्यार्थियो को इस बात का प्रयास तो करना ही चाहिए कि जीवन के जितने क्षेत्रो में वे हिन्दी का प्रयोग कर सकते है उसका प्रयोग करें। मेरे इस कथन का यह आशय आप न लें कि मै चाहता हूँ कि अंगरेजी को पूर्णतया हटा दिया जाय। अंगरेजी के विरुद्ध मेरा लेशमात्र विद्वेष नहीं है। मै तो यह समझता हूँ कि इसके ज्ञान से हमें अनेक देशो और जातियो के विचारो से अपने को परिचित करने में सहायता मिलती है। यह कोई छोटी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त अंगरेजी हमारे और अनेक अन्य देशो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य और आदान-प्रदान की भाषा बनी रहेगी। अतः यह स्पष्ट है कि अंगरेजी का ज्ञान पूर्णतया आवश्यक है और हमारे बालक उसको सीखते है और सीखते रहेंगे। किन्तु मेरा यह आशय अवश्य है कि यह विचार कि अंगरेजी सत्ता और पद प्राप्त करने का विशिष्ट साधन है, अब हट जाना चाहिए। इसे सम्मान और संस्कृति का एकमात्र प्रतीक न माना जाना चाहिए। इसके विपरीत इस संस्था के विद्यार्थियों को इस विश्वास के साथ पढ़ना चाहिए कि वे अपने जीवन के कार्य को पूरा करने में तभी समर्थ होगे जब वे उस भाषा में पारंगत हो जिसे इस देश के साधारण लोगो की विशाल जनसंख्या बोलती और समझती है। उन्हे अपने देश-भाइयो की वाणी से प्रेम होना चाहिए और उसके प्रति आदर और गौरव की भावना होनी चाहिए। मै इस बात पर बल देता हूँ, क्योकि मेरी यह भावना है कि जिस लोकतन्त्रात्मक समाज के निर्माण का हम इस देश में प्रयास करते है, उसको विचार में रखकर यह आवश्यक है कि अंगरेजी-शिक्षित व्यक्तियो और देश के अन्य लोगो के बीच जो मानसिक खाई पैदा हो गई है, वह पूरी तरह दूर हो जाय।

अभी हाल तक उन लोगो के मन मे जो अंगरेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त करते रहे है अनजाने ही यह मान्यता रही है कि उनका शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य ध्येय यह है कि अंगरेजी रहन-सहन से वे अपने को यथासभव एकीकृत कर लें। इस भावना के कारण वे भारतीय जनता से पृथक् हो गये है। उनका वेष, उनकी भाषा, उनका आचार, उनके सामाजिक आदर्श, उनकी रुचि और हौबी और उनके आमोद-प्रमोद की रीति, सभी जनता की इन सब बातो से सर्वथा भिन्न और विदेशीय है। वे अपनी जन्मभूमि में ही एक नया वर्ग या जाति बन गये है। मेरा विचार है कि यह बहुत ही हानिकारक बात हुई है और अब समय आ गया है कि इसको ख़त्म किया

जाय। हमारे देश के सामने अनेक समस्याएँ सुलझाने के लिए है। हम उन्हें तभी सफलता से सुलझा सकते है जब शिक्षित और अशिक्षित दोनो के हृदय में एक ही-सी धड़कन होती हो। यदि हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व इस प्रकार निश्चल वना रहा तो हमारा वचना संभव नहीं है। यही कारण है कि मै यह महसूस करता हूँ कि इस संस्था में और देश की इसी प्रकार की अन्य सस्थाओ में शिक्षा के माध्यम के सम्वन्ध में जो दृष्टिकोण है उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

जनता की भाषा पर मेरा इतना आग्रह केवल उसके अपने लिए ही नहीं है अर्थात् वह इसलिए नहीं है कि मै भाषा की दृष्टि से उसे अंगरेजी या किसी अन्य भाषा से उत्तम समझता हूँ। मेरा आग्रह तो इस विश्वास से पैदा हुआ है कि अपने देश में, लोकतन्त्रात्मक समाज तथा सम्पन्न कृषि और उद्योग के निर्माण में, जनता की शक्ति को लगाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बुद्धिजीवियो और साधारण जनो के आदर्शों और विचारो में कोई गहरी खाई न हो। इस कारण मुझे ऐसा लगता है कि लोक-विद्यालयो को, हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशो में हिन्दी को तथा अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशो में वहाँ की जनता की भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में केवल अपनाना ही नहीं चाहिए, वरन् उन्हे भारत के इतिहास, साहित्य और सामाजिक ढांचे को भी उससे कहीं अधिक महत्त्व देना चाहिए जितना कि वे आजकल उन्हें देते है। कम-से-कम पाठशालाओ के बालको के लिए तो इस नीति को अपनाना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने पर ही वे भारतीय जनता के अखण्ड अग वन सकेंगे। आप इस बात का प्रयास करें कि आपके बालक वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, टैगोर और गान्धी की रचनाओ के अमृत का पान करें। मै यह बात फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि किसी संकीर्ण राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर मै इस परिवर्तन का पक्ष नहीं ले रहा हूँ। मै ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि मुझे विश्वास है कि इन विभूतियो में से-जिनका अभी-अभी मैंने नाम लिया है प्रत्येक ने निस्पृह किन्तु सृजनात्मक सेवा के उस महान् आदर्श का गान गाया है जिसकी आज मनुष्य-जाति को सवने अधिक आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि ज्ञान की जिज्ञासा के पीछे चलते-चलते मनुष्य आज ऐसी मंजिल पर पहुँच गया है जहाँ उससे वचने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसके सारे कार्य, चाहे वैयक्तिक हो और चाहे सामाजिक, इस सेवा के आदर्श से प्रेरित हो। यदि वह अपने ही स्वार्थ और सत्ता-साधन की भावना से प्रेरित रहा तो उसके हाथों में जो शक्ति है उसकी वहुलता ही आज उसके लिए भारी सकट वन जायगी। उन युगो में जब उसकी शक्ति सीमित थी इस प्रकार की स्वार्थ-साधना से समस्त मानव-जाति के विनाश का खतरा नहीं था, किन्तु आज वह सकट सिर पर मंडरा रहा है और अत्यन्त निकट है। कोई भी व्यक्ति, कोई भी समूह और कोई भी

राष्ट्र संकट को बुलाये बिना इस शक्ति का प्रयोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए करने की आशा नहीं कर सकता। यह निश्चित है कि उसका अपना और अन्य लोगो का इस प्रयोग के कारण सर्वनाश हो जायगा। अतः अब समय आ गया है कि हम आत्म-दम्भ और आत्म-स्वार्थ के स्थान पर अन्य आदर्शों को अधिक महत्त्व देना आरम्भ कर दें। आज हमें सब लोगो में विनम्रता और त्याग तथा सेवा और सहानुभूति की भावना की आवश्यकता है। अब समय है कि ये आदर्श हमारे जीवन के स्रोत बन जायें और यह तभी होगा जब हमारे बालक देश के साहित्य से आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करेंगे। मैं यह और कह देना चाहता हूँ कि जनता की भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने में चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यो न हो, साहित्यिक अध्ययन के पाठ्यक्रम में भारतीय साहित्य को सम्मिलित करने में तो अविलम्ब कोई कठिनाई है ही नहीं। अतः मैं समझता हूँ कि यह परिवर्तन तो करना ही है और तुरन्त करना है।

मैं यह जानता हूँ कि साहित्य के थोड़े अध्ययन से ही बालको में इन आदर्शों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने की आदत नहीं पड़ जायगी। वे साहित्य के सौन्दर्य को देखेंगे, किन्तु केवल उससे ही उनके मन में यह विश्वास पैदा नहीं हो जायगा कि वह सौन्दर्य उनके अपने जीवन का सौन्दर्य हो सकता है। यह विश्वास उनमें तभी पैदा होगा जब वे पाठशाला के, छात्रावास के, क्रीडा-क्षेत्र के और अन्य क्षेत्रों के जीवन में इस विश्वास के अनुकूल आचरण करने लगेंगे। उन सबको पाठशाला में और अड़ौस-पड़ौस में किसी-न-किसी प्रकार के सृजनात्मक कार्य को अपने हाथ में लेना चाहिए। अतः मुझे इस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि इस संस्था के विद्यार्थियो ने ग्राम-सेवा और साक्षरता-प्रसार का कार्य हाथ में लिया है। मेरा विचार है कि यह कार्य इस संस्था का अविच्छिन्न अंग होना चाहिए। तभी यह संस्था ऐसी मानव-धारा का स्रोत बन सकेगी जो भविष्य में सर्वदा बहती रहे।

४

शिक्षा-प्रसार और हिन्दी[1]

हिन्दी के सम्बन्ध में मेरा विचार लोगो को बहुत कुछ मालूम है, क्योंकि अकसर जब कभी इसके लिए अवसर मिलता है तभी मैं अपने विचारो को प्रकट करता आया हूँ। मैं कोई साहित्यिक व्यक्ति नही हूँ और न मैंने साहित्य का अध्ययन किया है। इसलिए मैं साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहना अपने लिए अनधिकार चेष्टा मानता हूँ। मेरी योग्यता के सम्बन्ध में चाहे लोग अपनी ओर से कुछ भी कहे और नन्ददुलारे जी ने भी, जिनकी गिनती हमारे देश के विद्वानो में है, कुछ कहा है पर मैं अपने को वैसा नही मानता। किन्तु साथ ही मैं इतना कहना उचित समझता हूँ कि आज साहित्य में जो लिखा जाता है और उसका बहाव जिस तरह चल रहा है उसकी समीक्षा करते रहना हिन्दी के विद्वानो का काम है।

मैं हिन्दी को हमेशा एक दूसरे रूप में देखा करता हूँ और हम से हिन्दी की जो कुछ सेवा होती है वह उसी प्रकार होती है। मैं बहुत दिनो से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखता रहा हूँ और देखना चाहता हूँ। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो भाषा ऐसी होनी चाहिए जो समृद्ध हो और जिसमें हम प्रत्येक विषय को आसानी से व्यक्त कर सकें। दूसरी चीज यह है कि इस भाषा का साहित्य भी ऐसा सुन्दर और प्रचुर हो कि सभी लोग अपनी इच्छा से इसकी तरफ झुक जायें और इस का अध्ययन अपने लिए आवश्यक समझें।

दूसरा काम जो साहित्य के जुटाने का है वह साहित्य के निर्माण का है। मुझे साहित्य पढने का समय नहीं मिलता, लेकिन जहाँ तक मैं कह सकता हूँ, पिछले ५० वर्षों में, जब से मेरा थोडा-बहुत हिन्दी से सम्बन्ध रहा है, हिन्दी के साहित्य-संसार में बहुत बड़ी प्रगति हुई है और जो लोग इन ५० वर्षों में हिन्दी के इतिहास को देखेंगे उनको इस बात का सन्तोष होगा कि इन ५० वर्षों में हिन्दी कहाँ-से-कहाँ निकल गई है और उसका भण्डार आज बहुत विषयो में बहुत बातो में प्रचुर हो गया है मगर तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य का भण्डार कभी पूरा हो जायगा। साहित्य एक ऐसा भण्डार है जो कभी पूरा नहीं होता। वह किसी भी देश में, किसी

---

१ भाषण : हिन्दी-विद्यापीठ, देवघर, का समावर्तन समारोह, २६ फरवरी, १९५१।

भी भाषा में पूरा नहीं हुआ और किसी भी जाति के लोगो ने उसे पूरा नहीं किया। वह मानव-जाति के साथ-साथ प्रगति करता जाता है और जैसे-जैसे मानव-जाति आगे बढ़ती जाती है, साहित्य भी उसके साथ आगे बढता है। वह तभी पूरा होगा जब मानव-जाति की प्रगति ऐसे स्थान पर पहुँच जायगी जहाँ से वह आगे बढने वाली न हो। यह कभी होने वाला नहीं है, क्योंकि मानव-जाति सदैव प्रगति करने वाली है। हम उसका रूप बदल सकते हैं, उसका ढंग बदल सकते है, और कभी-कभी उसकी दिशा भी बदल सकते है मगर साहित्य निरन्तर बढता ही जाता है। जैसे हिमालय से निकलकर गंगा बहते-बहते समुद्र में जा मिलती है और तभी शान्त होती है, वैसी ही साहित्य की भी स्थिति है। जब वह मानव-समाज के समुद्र से एक हो जायगी तभी उसका चरम उत्कर्ष होगा। जैसा मैंने कहा, यह काम साहित्यिको का है कि साहित्य के काम का लोगों को दिग्दर्शन कराते रहें और उनको मार्ग दिखाते रहें।

हिन्दी भाषा किस तरह से राष्ट्रभाषा बन जाय, यह एक दूसरा विषय है। इसके साथ मेरी ख़ास दिलचस्पी रही है और हिन्दी का प्रचार सारे देश में किस तरह से हो, इसमें थोड़ा-बहुत काम भी मैं करता आया हूँ। मैं आपसे दो शब्द इस सम्बन्ध में कह देना चाहता हूँ। यह हिन्दी बोलने वालो के लिए गौरव की बात है कि उनकी भाषा आज राष्ट्रभाषा के रूप में मान ली गई है और इसे मानकर देश ने उन पर एक भारी जवाबदेही भी लाद दी है। आप जानते है कि इस देश में दो प्रकार की मुख्य भाषायें हैं। एक तो वे हैं जो संस्कृत से प्रभावित हुई है मगर जिनका जन्म-स्थान कहीं दूसरी जगह पर है अर्थात् जिनका स्रोत कहीं दूसरी जगह से चला है। वे दक्षिण की भाषायें हैं और यह कहना असम्भव है कि वे संस्कृत से उद्भूत हुई हैं। इन दोनो प्रकार की भाषाओ के बोलने वालो ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया है। हमें अब यह देखना है कि हमारी राष्ट्रभाषा किस तरह इस योग्य बने कि सब सार्वदेशिक काम उस भाषा के ज़रिये हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के अलावा जो भाषायें है वे किसी प्रकार से तिरस्कृत हैं। इसका अर्थ यही है कि सार्वदेशिक काम के लिए हिन्दी मान ली गई है और एक सूबे का दूसरे सूबे के साथ जो कारबार होता है वह हिन्दी के ज़रिये ही होना चाहिए और होगा। हिन्दुस्तान की गवर्नमेण्ट जो कुछ काम करेगी इसी भाषा के द्वारा करेगी। हमारे संविधान ने इस भाषा को मान लिया है और उसमें यह भी है कि भाषा ऐसी हो जिसको सभी लोग समझ सकें। उसमें योग्यता भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसमें आधुनिक विचारो को अच्छी तरह से व्यक्त कर सकें। अतः अब हिन्दी वालों पर एक बड़ी जवाबदेही आ गई है। मैं मानता हूँ कि जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो गई है तो उसको ऐसा बनाना चाहिए कि वह किसी भी भाषा के शब्दों को अपने में मिलाने में समर्थ हो। इसलिए मैं जब कभी दूसरी भाषाओ से आये

हुए शब्दों को निकालने की प्रवृत्ति देखता हूं तो वह मुझे खटकती है। मैं चाहता हूं कि हिन्दी का शब्द-भण्डार जितना बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाय और उसको बढ़ाने में हम इस प्रकार के संकुचित विचार न रखें कि वे शब्द संस्कृत के हैं या नहीं अथवा प्राचीन हिन्दी के हैं या नहीं, बल्कि हमको यही सोचना चाहिए कि शब्द सुन्दर है या नहीं और हमारे भाव को व्यक्त करता है या नहीं। अगर कर सकता हो तो उसको लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।

मैं देखता हूं कि जो हिन्दी-भाषी नहीं हैं वे कहीं घबड़ाते हैं और कहीं डरते हैं कि उन पर हिन्दी लाद दी जायगी। मैं चाहता हूं कि इस भय को उनके दिल से निकाल दिया जाय। इसका रास्ता यही है कि सब मिलकर हिन्दी भाषा को उनकी भाषा भी बनायें जिससे वे खुशी से इसे अपनावें। यह अपनापन तभी हो सकता है जब हम उनसे प्रेम से मिलें, उनसे कुछ लें और कुछ वे हम से लें। इसका रूप ऐसा हो जो न हमारे लिए ही अपरिचित हो और न उनके लिए ही। इसके लिए प्रान्तीय भाषाओं के बहुतेरे प्रयोग हिन्दी में आयेंगे। अगर हम हिन्दी को समृद्ध करना चाहते हैं तो प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि में किसी तरह से बाधा नहीं डालनी चाहिए और उनकी समृद्धि से हिन्दी के लिए भी लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हम उनसे जो कुछ ले सकते हैं, उसे लेना चाहिए। मैं तो यहां तक जाने के लिए तैयार हूं कि अगर उन प्रयोगों के कारण हमें व्याकरण में कुछ सुधार भी करना पड़े तो हमें उसके लिए भी तैयार रहना चाहिए, क्योंकि हमें ऐसी भाषा का सृजन करना है जो सारे देश में आसानी से समझी जा सके। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद उसमें इस प्रकार का विकास अनिवार्य हो गया है और ऐसा होना ठीक भी है। इसलिए मैं हिन्दी के विद्वानों से कहना चाहता हूं कि अब वे यह न समझें कि हिन्दी उनकी चीज है और वे जिस तरह चाहेंगे उसको रखेंगे, तोड़ेंगे, मरोड़ेंगे और दूसरों को उसमें कुछ बोलने का अधिकार नहीं देंगे। इस भावना को छोड़ देना चाहिए और जो हिन्दी बोलने वाले नहीं हैं उनसे सहायता लेकर हिन्दी को समृद्ध बनाना चाहिए। उनके लिए यह उचित होगा कि प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली से, उनके प्रयोगों से और उनके अच्छे वाक्यों से हिन्दी भाषा को भूषित करें जिससे यह कहा जा सके कि हिन्दी हमारी ही भाषा नहीं, सारे भारतवर्ष की भाषा है। मैं आशा करता हूं कि हिन्दी के विद्वान् हमेशा इस बात पर ध्यान देंगे।

इसके अलावा दूसरा भी काम है। वह है प्रचार का काम। प्रचार का अर्थ केवल भाषण देना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग हिन्दी नहीं जानते, हम उनको इस योग्य बना दें कि जिस तरह से हम हिन्दी में अपना कारबार करते हैं, उसी तरह वे भी अगर हिन्दी में काम करना चाहें तो कर सकें और काम को उसी सफलता

से अंजाम दे सकें। इसलिए जो हिन्दी-भाषी हैं, उनकी बड़ी जवाबदेही है। जहाँ-जहाँ हिन्दी सीखने वाले है वहाँ-वहाँ हमारे आदमियो को जाना चाहिए और उनको हिन्दी सिखानी चाहिए। यह काम इस तरह से होना चाहिए कि वे यह न समझें कि हम उन पर बोझ-लाद रहे हैं, बल्कि सेवा-रूप में उनको इस काम के लिए तैयार होना चाहिए। मुझे याद है कि आज से क़रीब ३२ वर्ष पहले जब महात्मा जी ने मद्रास में पहले-पहल हिन्दी का काम शुरू किया था तो उत्तर भारत से हिन्दी जानने वालों को उन्होने वहाँ भेजा था और सत्यदेव जी को प्रचार के लिए वहाँ पहला स्थान मिला था। उन्होंने महात्मा जी के पुत्र श्री देवदास गान्धी के साथ प्रचार का काम शुरू किया था। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि इस काम में विहार का भी हिस्सा कुछ कम नहीं रहा। यहाँ से भी लोग गये और वहाँ काम किया और वह इतना फैला और इस हद तक पहुँच गया कि अब शायद उनको उत्तर भारत के लोगो की जरूरत भी नहीं रही। यह सुनकर शायद आपका मनोरंजन होगा कि मैंने वहाँ कई बार उपाधि-वितरण का काम किया है। वहाँ स्त्री और पुरुष दोनो परीक्षा में सम्मिलित होते हैं और कई बार मैने पति-पत्नी को एक साथ उपाधि दी है और एक बार तो एक ही साथ तीन पुश्तो को उपाधि देने का मौका मिला है, जिसमे दादी भी, नतिन भी, पतोहू भी, दादा भी, बाप भी और बेटे भी थे। आप इससे जान सकते हैं कि वहाँ लोगो में इस सम्बन्ध में कितना उत्साह है और आज हम कह सकते हैं कि दक्षिण में हिन्दी के प्रचार का जितना काम हो रहा है उतना काम और किसी जगह पर नहीं हो रहा। वहाँ जितने पैसे वे खर्च कर रहे हैं और जितने स्वयसेवक इस काम में लगे हुए हैं उतने और किसी भी जगह पर नहीं है। इस वक़्त वे लाखो रुपये इस काम में अपनी ओर से खर्च कर रहे हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी-भाषी लोगों का यह धर्म है कि जहाँ के लोग हिन्दी सीखना चाहते हैं उनको यह सुविधा दें और उनको अपनी सेवा दे जिससे वे इतनी योग्यता प्राप्त कर सकें कि राष्ट्र का काम हिन्दी में कर सकें। इस बात पर आपको ध्यान देना चाहिए। हिन्दी-प्रचार के काम में त्याग और सेवा-भावना की जरूरत है। मै आशा करता हूँ कि इस प्रकार कुछ लोग इस काम को अपने जीवन का बड़ा काम समझकर इसमें लग जायेंगे और इसको पूरा करेंगे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और दूसरी संस्थाओ के लोग इस काम में पड़कर इसे जल्द-से-जल्द पूरा करें जिससे फिर किसी को यह शिकायत करने की गुंजाइश न रह जाय कि कोई सिखाने वाला नहीं था इसलिए उसने हिन्दी नहीं सीखी और सार्वदेशिक काम के लिए उसे अंगरेजी का सहारा लेना पड़ा। यह बड़ा काम है और मै आशा रखता हूँ कि इस प्रान्त के लोग भी और विशेष करके ऐसे लोग जो इस संस्था से सम्बद्ध हैं इस पर ध्यान देंगे और जहाँ आवश्यकता होगी इस काम को करेंगे।

आप यह न समझें कि भारत स्वतन्त्र हो गया है तो उसकी सारी समस्यायें ही सुलझ गई हैं। समस्यायें ज्यो-की-त्यो पडी हैं। जब हम स्वतन्त्र हुए तो उसके साथ ही विपत्तियाँ भी हमारे ऊपर आई और हमने उनका मुकाबला किया। उनको सँभालने में ही हमारी अब तक सब शक्ति गई है और अभी हम पार भी नहीं हो पाये हैं मगर हमें उनसे घबराना नहीं है। कोई भी बड़ी क्रान्ति होती है तो उसमें कितने ही वर्ष स्थिति को सँभालने में लग जाते हैं। अमेरिका जब स्वतन्त्र हुआ तो न मालूम कितने वर्ष उसे अपने को सँभालने में लगे। अभी हाल में जो क्रान्तियाँ हुई हैं उनमें भी लोगों को अपने को सँभालने में बहुत समय लगा है। हमारे देश की क्रान्ति दूसरे ढंग की क्रान्ति रही है और दूसरे देशो की क्रान्ति से भिन्न रही है। और देशो में क्रान्तियाँ लड़-भिड़कर की गई हैं और उनके सामने हिंसा-अहिंसा का कोई प्रश्न नहीं रहा है। इसलिए अपने समाज के संगठन में भी उनके सामने कोई इस तरह की नैतिक कठिनाई नहीं आई। नैतिक कठिनाई को अगर नैतिक दृष्टि से न देखा जाय और काम की ही दृष्टि से देखा जाय तो हमको मानना ही पड़ेगा कि हमने महात्मा जी के नेतृत्व में जो रास्ता अख्तियार किया उस रास्ते पर चलकर हम आसानी से स्वराज्य प्राप्त कर सके। एक बहुत बड़ी शक्ति का हमने मुकाबला किया और कोई कह नहीं सकता कि किस तरह से वह शक्ति कहीं चली गई और उसकी जगह किस तरह से और कब हम प्रतिष्ठित हो गये। इसका महत्त्व शायद आज न मालूम होता हो मगर आज से कुछ दिनो के बाद जब इतिहास लेखक इस समय के इतिहास को देखेंगे और लिखेंगे, इस समय जो कुछ हुआ है उस पर विचार करेंगे तो उनको अचम्भा होगा कि ऐसे लोग जिनके हाथो में हथियार नहीं थे इतनी बड़ी शक्ति का जो सैंकडो वर्षों से खड़ी थी कैसे मुक़ाबला कर सके और सिर्फ यही नहीं कि अपने को उठा सके, बल्कि उस शक्ति को हटाकर अपने को प्रतिष्ठित कर सके। यह सब कैसे हुआ ? महात्मा जी ने जो रास्ता बताया था और उस रास्ते पर जो हम थोडा-बहुत चले थे, उसी का यह फल है। आज कुछ लोग सोचते हैं कि उससे अन्य रास्ते पर चलकर वे अधिक तेजी दिखला सकते हैं और जो कुछ हासिल करना है कर सकते हैं। मगर मेरा विश्वास है कि वैसा करके वे भूल करेंगे और जल्दी के बदले देर करेंगे। पुरानी कहावत है कि एक वर्ष का रास्ता अच्छा मगर छः महीने का रास्ता ठीक नहीं। महात्मा जी का रास्ता देखने में एक वर्ष का रास्ता मालूम पड़ सकता है और दूसरा रास्ता छः महीने का मालूम पड़ सकता है। मगर अनुभव बतलाता है कि वह एक वर्ष का रास्ता आसान रास्ता था। छ. महीने के रास्ते पर चलने से न मालूम कितने महीने लग सकते हैं। जिस रास्ते का हमने अवलम्ब लिया है उस पर चलकर यदि हम अभी तक अपना कार्य नहीं कर पाये तो कोई घबड़ाने की बात नहीं है। तीन वर्ष

का समय किसी भी राष्ट्र के लिए कोई बहुत बड़ा समय नहीं है। जैसा मैंने पहले कहा है, जिन देशों में क्रान्तियां हुई हैं वहां एक प्रकार से पहले की चीजों को अलग फेंककर उनको तोड़-ताड़ दिया गया है और उनके स्थान पर नयी चीजें क़ायम की गई हैं। उनको भी कुछ समय लगा है। हमें अपनी पुरानी संस्थाओं को क़ायम रखना है। उसी में उथल-पुथल करके हम अपना काम चला रहे हैं। हमारे सामने कोई खाली मैदान नहीं है कि हम अपनी इच्छानुसार जो कुछ चाहें बना लें। हमको पुरानी चीजों को रखकर इस तरह से बनाना है कि यह मालूम न हो कि हम कुछ तोड़-फोड़ कर रहे हैं। हमको यह दिखलाना है कि हम किस तरह अपना काम ले सकते हैं और अपने को योग्य बना सकते हैं। मेरा ख्याल है कि इसी पर चलकर हम जल्द-से-जल्द जहां हमें पहुंचना है वहां पहुंच सकते हैं। दूसरे रास्ते पर चलकर कठिनाइयों का मुकाबला करना होगा और इसमें भी शक है कि हम अपने ध्येय तक पहुंच सकेंगे।

यहीं पर साहित्य और भाषा का प्रश्न आता है। मैंने कहा कि साहित्य मैं नहीं जानता हूं और मुझे उसका अध्ययन करने का समय भी नहीं मिला है, पर तो भी मैं समझता हूं कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जो विध्वंस की तरफ न ले जाकर बनाने की ओर ले जाय। बिगाड़ना आसान होता है पर बनाने में बड़ी शक्ति लगती है, बुद्धि लगती है और बहुत समय लगता है। साहित्य का रुख सृजन की तरफ रखना चाहिए। मैं चाहता हूं कि साहित्यिक लोग इस तरफ बढ़ें और हमारा दिग्दर्शन करें, तभी हम बढ़ सकते हैं। मैं आशा करता हूं कि हमारे देश के जो लोग आज स्वतन्त्र हुए हैं वे अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को पूरा कर सकेंगे, इसे समझेंगे और अपनी जवाबदेही को भी समझेंगे।

इस देश को हमने स्वतन्त्र कर दिया, लेकिन देश को स्वतन्त्र कर लेना ही काफ़ी नहीं है। हमने जो स्वप्न देखे थे और स्वतन्त्र भारत का जैसा चित्र अपने सामने रखा था, जिसमें न बीमारी हो न दुःख-दारिद्र्य हो और न अशिक्षा, उसको हम पूरा नहीं कर सके हैं। इसके लिए तपस्या और त्याग की जरूरत है। मुझे यह आशा है कि जिस तरह से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ संघर्ष के ज़माने में हम सब कुछ करने के लिए तैयार थे और गान्धी जी के बताये मार्ग के अनुसार चलकर अपने को आगे बढ़ा रहे थे उसी तरह अब जो रचनात्मक काम करना है, नये समाज के संगठन का काम करना है, उसमें भी हम त्याग करने के लिए तैयार हो जायेंगे और वह काम पूरा कर लेंगे। मैं यह भी मानता हूं कि यह काम उससे अधिक कठिन होता है। विध्वंस का काम हम खत्म कर चुके हैं और अब हमें सृजन का काम करना है। हिन्दुस्तान को हमें बनाना है। अगर हम में से प्रत्येक मनुष्य यह सोचे कि हमें इसे बनाना है और अपनी तरफ़ नहीं, बल्कि सारे संसार के कल्याण और तरक़्क़ी की

तरफ़ ध्यान देना है तो अपने देश का और सारे संसार का हम कल्याण कर सकेंगे। हमने अगर स्वार्थी और अदूरदर्शी लोगो को पैदा किया तो देश और संसार दोनो का अहित होगा। इसमें सबसे बड़ा भाग विद्यालयो का है कि वे अच्छे-से-अच्छे नागरिक तैयार करें।

महात्मा जी कहा करते थे कि कोई भी गवर्नमेण्ट क्यो न हो, वह स्वय सुधार का काम नहीं कर सकती। यह तो गैर-सरकारी सस्थाओ का ही काम होता है कि उसे रास्ते पर चलने के लिए मजबूर करें। मगर आप शिक्षा-सम्बन्धी सुधार चाहते है और मै मानता हूँ कि आज शिक्षा में सुधार की जरूरत है। इसके लिए आपको लोकमत तैयार करना चाहिए। यह काम गवर्नमेण्ट करेगी। मगर यह गैरसरकारी संस्थाओ का काम है कि वे अपनी सेवा से, अपनी सफलता से और अपने प्रयोगो से उसको रास्ता बतलावें और उसको मजबूर करें कि जो चीज़ बेहतर है उसको वह अपनावे। मै आशा करता हूँ कि जहाँ-जहाँ इस तरह की संस्थाएँ काम कर रही है, वे इस दिशा में अग्रसर होंगी और ऐसा करने में उनको कठिनाइयाँ झेलनी पडीं तो झेलती रहेगी, अपने काम में लगी रहेगी और नये प्रयोगो को लाकर गवर्नमेण्ट को दिखलाती रहेंगी। अब प्रजातन्त्र क़ायम हो जाने के बाद गवर्नमेण्ट ऐसी होगी जो जनता की इच्छा के अनुसार काम करेगी। ऐसी अवस्था में यह हमारा काम है कि लोगो को इस तरफ आकर्षित करें और गवर्नमेण्ट को प्रभावित करें।

मै रास्ते में आ रहा था तो एक जगह कुछ लडको को कहते सुना कि देवघर में कॉलेज होना चाहिए। मगर मै कहूँगा कि कॉलेज होना काफी नहीं है। कॉलेज में आज क्या होता है, उसको भी देखना चाहिए। अगर आज शिक्षा-सुधार की जरूरत है तो इसलिए कि अब नयी रीति से काम करना है और सुधार के रास्ते पर चलना है। मै आपको हतोत्साह नहीं करना चाहता हूँ। अगर गवर्नमेण्ट चाहेगी तो देवघर में कॉलेज स्थापित हो जायगा। मगर मै कहूँगा कि उतने ही से सन्तोष नहीं मानना चाहिए। आज लोगो में नवजीवन और नयी शक्ति पैदा करनी है। मै इस बात को मानता हूँ कि यूनिवर्सिटियाँ जिस ध्येय को लेकर कायम की गई, अभी उसी पर चल रही है। अपने लिए उन्होंने कोई नया रास्ता नहीं निकाला है। हम को अब नये रास्ते पर चलना है। मै चाहता हूँ कि इस पर गवर्नमेण्ट भी विचार करे और जनता भी विचार करे और कोई नया रास्ता ढूंढ निकाला जाय। पश्चिम की चीज़ों को आँख मूंदकर हमें नहीं अपनाना है और न अपनी पुरानी चीज़ो को पुरानी लकीर कहकर फेंकना है। हमें सभी जगह से अच्छी चीजो को लेना है। मै चाहता हूँ कि लोग इस बात से घबरा न जायें कि अगर किसी से कह दिया गया कि वह प्रगतिशील नहीं है तो वह हमेशा के लिए निन्दा का पात्र बन जायगा। मै सच्ची प्रगति उसको

मानता हूँ जिसमें मानव-जाति का कल्याण हो। आज कल्याण किसमे है, इस पर भी मतभेद हो सकता है। मतभेद तो मनुष्यमात्र के हृदय में है और जब तक लोगों में सोचने की शक्ति रहेगी, मतभेद रहेगा ही। मगर हमको अपनी बुद्धि लगानी है, अपना मस्तिष्क लगाना है और देखना है कि संसार का कल्याण किसमें है। आज हम देखते है कि शान्ति की बाते सभी करते है मगर शान्ति को अशान्ति के द्वारा कायम करना चाहते है। इस तरह हम कीचड़ को कीचड़ से धोना चाहते है। यह सम्भव नहीं है। इसलिए जरूरी है कि साफ पानी से कीचड़ को धोयें और बुराई का मुकाबला साफ दिल से करें। इसके लिए बड़े परिश्रम की जरूरत है और परिश्रम से अधिक तपस्या की जरूरत है। मै आशा करता हूँ कि नवभारत अपनी शक्ति से दूसरो को भी प्रभावित कर सकता है और उसका यह कर्तव्य है कि संसार के सामने ऐसी प्रवृत्ति पैदा करे कि संसार देख सके कि वह सचमुच ठीक रास्ते पर है। महात्मा गान्धी जी ने जो नया रास्ता हमें बतलाया उसी पर चलकर कुछ हद तक हम आगे बढ़े। अब हमको उसी पर आगे चलना है और वही संसार के लिए नया रास्ता है। मेरा विश्वास है कि ससार उसको मानेगा और उस पर चलेगा। इसलिए मै यह कहना चाहता हूँ कि आज भारतवर्ष पर बडी जवाबदेही आ गई है और ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमको बल दे कि हम उस जवाबदेही को निभा सकें। इसके लिए हमको तैयार होना है। इसके लिए त्याग जरूरी है। भारत अपने कल्याण के साथ-साथ सारे संसार का कल्याण करे, यही हमारी आशा और ईश्वर से प्रार्थना है।

५

विद्यार्थी और राजनीति

प्रायः तीन महीने हुए किसी भाई ने कहा था कि विहारी छात्र-सम्मेलन को फिर से जिलाने की कोशिश की जा रही है। मै तो ऐसा ही मौका तलाश कर रहा था कि मुझे मौका मिले तो मै अपनी सफाई दे सकूं और जैसा कि अभी मै विहार के छात्रों में अछूता समझा जाता हूँ वैसा न रहूँ। वर्तमान दशा के लिए मै किसी की शिकायत करना नहीं चाहता। मै शुरू से इसकी कार्यवाहियो को देखता रहा हूँ और इसकी हर वात को अधिक गौर और ध्यान से सुनता रहा हूँ। जिस समय यह कॉन्फ्रेंस खूव जोरो पर चल रही थी उस समय मै इसकी पूरी सेवा करता रहा और उस समय भी इसकी वातो को सुनता रहा और कार्यवाहियो को देखता रहा। किसी वात में भी मैंने वेवजह जोर नहीं लगाया था। कहीं भी दखलअन्दाजी नहीं की थी। स० १९२१ की वैठक में जव वावू जगधरप्रसाद जी इसके सभापति थे तव मुझे स्वागत-समिति का अध्यक्ष वनाया गया था और यहाँ पर उपस्थित कितने ही भाई उस समय भी शरीक हुए थे। मै उस समय केवल भाइयो के स्वागत में ही लगा हुआ था। सभी भाई आजाद थे। मैंने उस आजादी में रुकावट नहीं दी थी। छात्र-सम्मेलन को सूवे के विद्यार्थियों ने क़ायम किया है और उसे चलाने या मिटाने का भार उन्हीं पर है। मै नहीं चाहता कि उनके प्रोग्रामो पर असर डालूं या कोई हानिकर काम कर दूं। मै चुपचाप वैठा रहा; जो प्रस्ताव पास हुए उन्हें सुनता रहा और अन्त में कहा कि जो कुछ आप लोगो ने किया वह अच्छा ही किया। आज की वैठक में भी उसी तरह वैठे-वैठे देखता रहा कि आप लोगो के विचार में परिवर्तन है कि नहीं; आपकी कार्रवाई, आपके प्रस्ताव और व्यापारों को देखते और सुनते रहकर अपने दिल में वरावर सोचता रहा कि क्या कहूं और क्या नहीं कहूं। सुवह वोलने का वादा किया था पर अव तक ठीक नहीं कर सका कि क्या कहूँ। इसका कारण आप ही अपने दिल से पूछें। मैं अपने दिल के भावो को आपके सामने इस तरह से रखूंगा कि आप उनसे लाभ उठाएँ। सभापति जी ने कहा कि इस सम्मेलन की नींव देश-भक्ति पर है और जव तक यह भाव नहीं होगा तव तक यह कॉन्फ्रेंस नहीं चल सकेगी। ठीक है, इस कॉन्फ्रेंस का वड़े-से-वडा मकसद यही है कि इसके जरिये ऐसे

---

१ भाषण . विहारी छात्र-सम्मेलन की वैठक; प्रकाशित 'देश', १० एप्रिल १९२४।

नौजवानो को तैयार किया जाय जो समय आने पर किसी काम से मुंह न मोड़ें। आज फिर पुनर्जन्म देकर जो कॉन्फ्रेंस आप संगठित कर रहे हैं, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इसका भी फल पूर्ववत होगा ? मैं इसका उत्तर बड़ो से नहीं चाहता। इसका उत्तर इस संस्था के संचालक या कॉलेज के विद्यार्थी ही दें। कहा जाता है कि हम लोग राजनीति (पौलिटिक्स) नहीं चाहते। तब आप कहें कि राजनीति किसे कहते है ? क्या देशी कपड़ा पहनना राजनीतिक बातो में शामिल है ? बहुतो के लिए यह भयानक पौलिटिक्स है। इस सभा को देखकर जान पड़ता है कि मैं पांच वर्ष पहले की दुनिया में आ पड़ा हूँ। चारो ओर मलमल के कपड़ो की चमचमाहट है, चारों तरफ शौकीनी से भरे वस्त्र और शौक़ की सामग्री नजर आती है। हिन्दुस्तानी भाषा को मानो निकाल बाहर किया गया है। मुझे इस सभा के सदस्यो के मौजूदा ख्याल का अन्दाज़ा कुछ भी मालूम नहीं पड़ता। कुछ बड़े लोग मोटे कपडे में हैं, पर विद्यार्थियो के बारीक कपड़े मेरे लिए दु.खदायी हो रहे हैं। आज मैं असहयोग की लहर के समय के उन भाइयो को देखता हूँ जो मेरे पास गये थे। आज वे मेरे साथ नहीं है। चाहे वह दु.ख से और चाहे घर के दबाव से लौट गये हो, इसके लिए मुझे शिकायत नहीं, पर इन भाइयो ने लौटकर अपने भावो और वेशभूषा को ऐसा क्यो बना लिया, मानो वे किसी गड्ढे से बाहर निकलकर अपने बदन के कीचड़ को धोकर साफ हो गये हो। मेरी भक्ति, मेरी तारीफ, मेरी बातो पर ताली बजाना यह सब कुछ तो यहां है, पर मैं चाहता हूँ कि देश-प्रेम की बातों को भी याद रखा जाय। गवर्नमेण्ट स्कूल के छात्र भी देश का दायित्व अपने ऊपर समझें, क्योकि वे उससे बरी नहीं है। वह यह न समझें कि मुझ से अलग हो गये तो सब दावा खत्म हो गया। कोई भी हिन्दुस्तानी कहीं भी हो, उसका फर्ज है कि हिन्दुस्तान की सेवा करे। ऐसी सेवा उसका धर्म है। यदि आदर्श ऊँचे नहीं होते तब सम्मेलन न करना ही अच्छा है। यहाँ यह आदर्श होना चाहिए कि दिल, दिमाग़ और चरित्र में आप किसी से कम न हो और तालीम पाकर निकलने पर आप पर चाहे कितने ही सख्त कायदो का दबाव क्यो न हो, आप मर्दानगी के साथ काम में लग जायें। आप चाहें तो इस समय भी बहुत से काम कर सकते है। कुछ ही दिन हुए कि आप ही के साथी कितनो ही रात्रि-पाठशालाओ को चलाकर अपने श्रमजीवी मजदूर भाइयों को शिक्षा देते थे। हैमिलटन साहब ने कहा है कि स्वायत्त शासन में भी आप मदद दे सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि आप वोट-संग्रह करने जायें। आप यहाँ के १२ हजार अछूत भाइयों को कुछ विद्या पढ़ाकर उनका उद्धार कर सकते हैं। अपनी विद्या में जितनी चाहे तरक़्क़ी करते जाइये, पर साथ-ही-साथ सेवा-धर्म भी अवश्य सीखते जाइये। गृहस्थ के लड़के पहले से शिक्षा पाते है और तभी वे सादा-से-सादा काम जैसे हल चलाना, बीज डालना वग़ैरह कर सकते हैं।

परोपकार के लिए तालीम की जरूरत है। म आपको राजनीतिक धन्धो में लगाना नहीं चाहता। पर यदि आप रात्रि-पाठशाला में काम करें तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

बहुत से लोग कपड़े पहनने को और अछूतोद्धार को भी पौलिटिक्स कहेंगे। आपके भाई आपस में दुनिया की हालत पर बातें करें या सर्व और पत्रिका आदि अखबारों को पढ़ें और उसे भी पौलिटिक्स बताएँ, तब तो ऐसे विचारो को गंगा मे डुबो दीजिए। आप इन सब बातों को अपने जीवन से नहीं हटा सकते। तब पौलिटिक्स क्या होती है ? क्या कांग्रेस में स्वयंसेवक बनकर भाइयो की खाट उठाना, उनकी सेवा व महात्मा गान्धी के दर्शन करना भी पाप है ? आप राजनीतिक प्रश्नो पर अपने विचार बाहर प्रकट नहीं कर सकते, पर अपनी सोसायटी में वाद-विवाद कर सकते है कि असहयोग या कौन्सिल मे प्रवेश बुरा है या भला। इगलेंड मे विद्यार्थी राजनीतिक मत रखने वाली दलबन्दियो के लिए वोट-सग्रह करते है, पर मै ऐसा नहीं चाहता। इंगलेंड में विद्यार्थियों के पुस्तक-पाठ का दायरा (या वृत्त) कम है, पर कार्य-क्षेत्र फैला हुआ है। भारत के विद्यार्थियो का दुर्भाग्य है कि यहाँ भात-रोटी खाना और कपड़ा पहनना राजनीति कहलाता है। आप जो पढना चाहे, पढें, पर ध्येय यही रखें कि जब छूटें तब जिस काम में लगें उसे अच्छी तरह से कर सकें। मै चाहता हूँ कि जब भी मौका मिले तभी आपके दिमाग में उन्नति का (मेरम) डाल सकूँ। अन्त में मै कह देना चाहता हूँ कि दुनिया के बड़े-बड़े काम उन्हीं ने किये है जिनमें प्रतिभा की अधिकता थी। मै चाहता हूँ कि आप भी उसी भाव से उन्नत होकर विद्या पूर्ण करने के बाद मेरी ही तरह कार्य-क्षेत्र में आ जायें।